निवेदन

सर्वोदय एक समग्र जीवन-दर्शन है। उसके अनेक अंग या पहलू हैं। उसके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर मेरी विविध पुस्तकें पाठकों के सामने आ चुकी हैं। उसके रचनात्मक कार्य—भूदान या ग्रामदान पर भी मेरी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। इन पुस्तकों के लिखते समय अहिंसा के विषय की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। सोचा कि इस विषय पर कुछ विस्तार से अलग लिखा जाय। इसी का फल यह रचना है। स्वास्थ्य बहुत खराब होते हुए भी सर्वोदय साहित्य की रचना के लिए मेरे मन में खूब उत्साह है। और, आखिर यह पुस्तक भी पूरी हो गयी। ईश्वर का बहुत अनुग्रह है।

हिन्दी प्रेमी बन्धुओ! हमारा हिन्दी-प्रेम तभी सार्थक है, जब हम अपनी शक्ति केवल वाद-विवाद में न लगाकर कुछ काम करने में जुटे रहें। हिन्दी में काम बहुत करना है; विद्यार्थियों, अध्यापकों, लेखकों, प्रकाशकों—सभी पर अपने-अपने हिस्से का काम करने का दायित्व है। एक खास काम आत्म-शक्ति का चिन्तन-मनन अध्ययन-अध्यापन है, जिससे अणु की शक्ति नियंत्रित की जा सके, उसे विनाश के बजाय विकास में लगाया जा सके। आत्मा को खोकर सब कुछ भी पाया तो कुछ नहीं पाया; और; आत्मा को पाया, सब में आत्मीयता का अनुभव किया, प्रेम या अहिंसा को जीवन-धर्म मानकर चले तो सब कुछ पा लिया—यही सर्वोदय संदेश है।

जिन लेखकों या सम्पादकों की रचनाओं से मुझे सहायता मिली है, उनका मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। उनकी रचनाओं का उल्लेख इस पुस्तक में प्रसंगानुसार स्थान-स्थान पर करने का प्रयत्न किया गया है। सहायक साहित्य की सूची अलग भी दी गयी है। आशा है पाठक और लेखक उससे लाभ उठाएंगे। मेरी पुस्तकों में अनेक त्रुटियाँ या कमियाँ होने परभी जो गुण-ग्राही सज्जन उन्हें अपनाने का अनुग्रह करते हैं, उनका मैं ऋणी हूँ।

अपने विषय की इस अपेक्षाकृत छोटी सी पुस्तक में उस अहिंसा का विवेचन है, जो व्यक्तियों का तथा संस्थाओं का, परिवारों, जातियों, राज्यों या राष्ट्रों का, और सभी सृष्टि का जीवन-धर्म है। इस दृष्टि से जिन विद्वानों को इस रचना में कुछ विशेष दोष या कमी जान पड़े, वे मुझे सूचित करने की कृपा करें। यदि कोई भाई इस विषय पर और अधिक प्रकाश डालने वाली रचना प्रस्तुत करेंगे तो मुझे बड़ी ही प्रसन्नता होगी।

गाँधी जयन्ती
२ अक्तूबर, १६५७

विनीत
भगवानदास केला

पहला खंड—सिद्धान्त और इतिहास

५—आदि मानव संस्कृति और अहिंसा

६—भारतीय धर्मों में अहिंसा

७—अन्य धर्मों में अहिंसा

१५—अहिंसा और भोजन-वस्त्र

१६—अहिंसा और औषधियां

१७—अहिंसा और खेती

१८—अहिंसा और उद्योग-धंधे

१९—अहिंसा और व्यापार

२०—अहिंसा और धर्म

२१—अहिंसा और सभ्यता

२२—अहिंसा और मनोरंजन

२३—अहिंसा और शिक्षा

२४—अहिंसा और विज्ञान

२५—अहिंसा और अपराध

२६—अहिंसा और परिवार

२७—अहिंसा और समुदाय

२८—अहिंसा और राज्य

२९—अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

३०—अहिंसा और युद्ध

तीसरा खंड—उपसंहार

सहायक साहित्य

सर्वोदय	गांधी जी
'फौर पेसिफिस्ट्स' (अंग्रेजी)	,,
गांधी मार्ग	जी० भ० कृपलानी
सर्वोदय तत्व दर्शन	गोपीनाथ धावन
अहिंसा की क्रान्ति	रिचर्ड बी० ग्रेग
सर्वोदय संयोजन	अ० भ० सर्वसेवा संघ प्रकाशन
गांधी वाणी	रामनाथ 'सुमन'
अहिंसा और उसका विश्व-व्यापी प्रभाव	कामताप्रसाद जैन
महावीर और बुद्ध	किशोरलाल मश्रूवाला
अहिंसा विवेचन (गुजराती)	,,
'ए डिसिप्लिन फार नान-वायलेंस' (अंग्रेजी)	रिचर्ड बी० ग्रेग
अहिंसा के आचार और विचार का विकास	सुखलाल
समाज और जीवन	जमनालाल जैन
भारतीय संस्कृति और अहिंसा	धर्मानन्द कौसाम्बी

'भूदान-यज्ञ' (साप्ताहिक, काशी), 'ग्रामराज' (पाक्षिक, जयपुर), 'गांधी-मार्ग' (त्रैमासिक, बम्बई), 'सर्वोदय' (मासिक, वर्धा) की पुरानी फाइल, अहिंसा-वाणी (मासिक, अलीगंज, एटा) 'वायस आफ अहिंसा' (अंग्रेजी मासिक, अलीगंज, एटा)।

सर्वोदय साहित्य का एक विनम्र प्रयत्न

सन् १९५० के अन्त की बात है। हमने स्व० श्रीकृष्णदास जी जाजू की एक पुस्तक में गाँधी जी का यह वाक्य पढ़ा—'जो अर्थशास्त्र व्यक्ति की, या राष्ट्र की नैतिक भलाई पर आघात करता है, वह अनैतिक अतः पापमय है।' इसे पढ़ कर हमने निश्चय किया कि लेखकों, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों एवं सर्व-साधारण पाठकों का ध्यान प्रचलित अर्थशास्त्र से हटा कर मानवीय या सर्वोदय अर्थशास्त्र की ओर दिलाया जाय। इस पर हमने १९५१ में 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' की रचना की। इस काम में भाई जवाहिरलाल जैन (सम्पादक, 'लोकवाणी,' जयपुर) का अच्छा सहयोग मिला। उनकी इस प्रसंग में लिखी सामग्री 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था' नाम से छपी। इस प्रकार सर्वोदय ग्रन्थमाला की स्थापना हुई। हिन्दी के अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य के इतिहास में अपना अग्रगण्य स्थान रखने वाली, सन् १९१५ से चली आ रही भारतीय ग्रंथमाला इसी में मिल कर इस विचारधारा को अपना रही है।

हम मानव प्रगति का माप धातुओं, सिक्कों, नोट या साख-पत्रों से नहीं करते। देश के निर्माण का अर्थ ईंट-पत्थर, सीमेंट और लोहे की इमारतें या अन्य निर्माण-कार्य नहीं है। इनसान को जिन्दा रहने के लिए रोटी-कपड़ा हो, पर वह उसी के लिए न जीये, वह इनसानियत या मानवता का, सर्वोदय भावना का विकास करे। इसलिए हमने दैनिक जीवन, राजव्यवस्था, समाज-रचना और अर्थनीति—सब पर सर्वोदय दृष्टि से रचनाएँ तैयार कीं। सर्वोदय के प्रत्यक्ष स्थूल कार्य का परिचय एवं महत्व 'भूदान, श्रमदान, जीवनदान' पुस्तक में दर्शाया गया है। आधुनिक लोकतंत्र के दोषों का विचार करके 'लोकराज्य या सच्चा लोकतंत्र' का विवेचन किया गया है। निजी मालकियत या मेरे-तेरे की भावना से गाँव-गाँव में एवं संसार भर में जो संघर्ष हो रहा है, उसके निवारण के लिए 'मालकियत का विसर्जन' की रचना की गयी है। एक पुस्तक में

समाजवाद और साम्यवाद की सर्वोदय से तुलना करते हुए बताया गया है कि सर्वोदय में क्या विशेषता है। सर्वोदय जीवन के मंत्र क्या हैं, आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम क्या होने चाहिएँ, तथा राजनैतिक क्रान्ति का स्वरूप क्या हो, इन विषयों पर पाठकों को भाई जैन जी ने अच्छी विचार-सामग्री दी है। खेत गाँव का, खेती किसान की— इस महान अर्थवान मंत्र की व्याख्या विनोबा-पद-यात्री दल के एक कर्मठ साथी श्री सुरेश राम जी ने की है। अब हमारी 'जीवन-धर्म : अहिंसा' और 'सर्वोदय की बात, भावी नागरिकों से' पुस्तकें भी पाठकों की सेवा में उपस्थित हैं।

अस्तु, अपने सात वर्ष के जीवन में इस ग्रन्थमाला ने कुल मिलाकर तेईस पुस्तकें हिन्दी संसार को भेंट की हैं। कई पुस्तकों के दो-दो और दो के तो तीन-तीन संस्करण भी हो चुके हैं। साधारणतया एक संस्करण में एक हजार से लेकर पाँच हजार तक प्रतियाँ छपी हैं। जिन सम्पादकों, अध्यापकों, खादी-संघ तथा भूदान-कार्यकर्ताओं ने इस साहित्य के प्रचार में हमारा हाथ बँटाया है, उनके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। हम चाहते हैं कि यह साहित्य घर-घर पहुँचे, खासकर जो भाई-बहिन कुछ विवेकशील हों, भारत के (और परोक्ष रूप में संसार के) नव-निर्माण में भाग लेने के अभिलाषी हों, जिनके हृदय में वर्तमान अनैतिकता और विषमता दूर करने की लगन हो—वे इस साहित्य को अवश्य ही पढ़ें, मनन करें, और इसका दूसरों में प्रचार करें। स्पष्ट है, जितने अधिक पाठक इस साहित्य को अपनावेंगे, उतना ही हमारा प्रयत्न अधिक सार्थक और सफल होगा।

पहला खंड

सिद्धान्त और इतिहास

———

वे ऋषि, जिन्होंने हिंसा के बीच में अहिंसा के कानून को खोजा, न्यूटन की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभाशाली थे। वे स्वयं वेलिंगटन की अपेक्षा कहीं अधिक महान योद्धा थे। अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग वे जानते थे, इसलिए समझ गये कि उनका कोई उपयोग नहीं है; और इसलिए थके-हारे विश्व को उन्होंने सिखाया कि उसकी मुक्ति हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा से होगी। अहिंसा का अर्थ सक्रिय स्थिति में भान-सहित (जान-बूझ कर) पीड़न है। इसका अर्थ अत्याचारी की इच्छा के सामने चुपचाप झुक जाना नहीं है, वरन् इसका अर्थ है, अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी सारी प्राण-शक्ति लगा देना। हमारे अस्तित्व के इस कानून के अन्तर्गत काम करते हुए अकेले व्यक्ति के लिए भी सम्भव है कि वह अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए एक अन्यायी साम्राज्य की महान शक्ति के विरुद्ध खड़ा हो जाय और इस प्रकार उस साम्राज्य के पतन या सुधार की नींव डाल दे।

—गांधी जी

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

हम पशु-बल लेकर तो अवतीर्ण ही हुए थे, पर हमारा मानव अवतार इसलिए हुआ कि हमारे अन्तर में जो ईश्वर वसता है, उसका साक्षात्कार हम कर सकें। यह मनुष्य का विशेषाधिकार है और यही इसके और पशु-सृष्टि के वीच अन्तर है।

—गांधी जी

मनुष्य में परिवर्तन की परम्परा—मनुष्य ने अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर जुदा-जुदा ढंग अपनाये हैं। उसने जीवन-निर्वाह के लिए क्रमशः औजारों का उपयोग किया और पशु-पालन ,खेती, उद्योग-धंधे और व्यापार अपनाया। वह सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं के क्या-क्या प्रयोग या अनुभव करके अपनी वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुआ है—इन बातों के व्योरे में न जाकर, हमें यहाँ यही कहना है कि मनुष्य निरंतर अपने जीवन में परिवर्तन करता रहा है। प्रगति करना उसका स्वभाव ही है। यह उसके लिए अनिवार्य है। ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता। दूसरे जानवरों में सैकड़ों या हजारों वर्षों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, और अगर कभी विशेष कारणों से कुछ होता भी है तो बहुत कम। इस प्रकार रामायण-काल की गाय, बैल, बकरी, घोड़ा, कबूतर, मोर आदि का जो खानपान, उठने-बैठने, आराम करने का ढंग था, वही आज के इन पशु-पक्षियों का है। परन्तु मनुष्य की यह बात नहीं, यह स्पष्ट ही है।

मनुष्य की बुद्धि—प्रायः अनुसंधान करने वालों का मत है कि एक समय ऐसा भी रहा है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह समय अब से कितने लाख वर्ष पहले रहा है—जब आदमी पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करता था, वह भी एक पशु ही था। वह नग्न अवस्था में कन्दराओं या गुफाओं में या पेड़ों पर तथा उनकी छाया में रहता था और कुदरती तौर पर पैदा होने वाले कन्द, मूल, फल या पत्ते आदि या छोटे कमजोर जानवर खाता था। उसे अपने भोजन के लिए दूसरे पशुओं से लड़ना-झगड़ना पड़ता था। इस अवस्था में रहने के बाद मनुष्य के जीवन ने नया मोड़ लिया, उसमें बुद्धि का विकास हुआ। यों एक प्रकार की बुद्धि जानवरों में भी होती है, जिसे सहज ज्ञान, पशु-बुद्धि (इंस्टिंक्ट) कहते हैं, परन्तु उनका यह सहज ज्ञान जितना पहले था, हजारों या लाखों वर्ष बाद भी उतना ही रहा, इसलिए उनके जीवन या रहन-सहन आदि में कोई विशेष अन्तर नहीं आया, सिवाय उसके जो मनुष्य द्वारा उनमें लाया गया है। इसके विपरीत, मनुष्य की बुद्धि का विकास और वृद्धि होती रहती है। अस्तु, जब से भी मनुष्य की बुद्धि का विकास आरम्भ हुआ, वह उत्तरोत्तर बढ़ती रही है, और इसीलिए आदमी धीरे-धीरे पशुओं को अपने वश में करने में सफल होता रहा है। वह बड़े-बड़े जंगली, भयानक और विशालकाय जानवरों पर विजय पाता रहा है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने में आगे बढ़ता रहा है। उसने जमीन, समुद्र, हवा और आकाश आदि पर विजय-प्राप्त की है, भाप, बिजली और अणुशक्ति का उपयोग किया है और करता जा रहा है।

बुद्धि के उपयोग से सुख की वृद्धि—मनुष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी बुद्धि का उपयोग करता रहा है। इससे उसका जीवन पहले की अपेक्षा बहुत बाधा-रहित या सुविधा-पूर्ण हो गया है, और होता जा रहा है। उसकी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं अथवा काफी कम

हो गई हैं। अपनी आवश्यकता-पूर्ति के जिन कामों के लिए पहले उसे बहुत मरना-खपना पड़ता था और जो फिर भी विशेष संतोषप्रद नहीं होते थे, वे अब आसानी से, बहुत थोड़ी मेहनत और परेशानी से, बहुत जल्दी ही हो जाते हैं। आदमी को बहुत फ़ुरसत मिलने लग गयी है। इस प्रकार यदि आदमी अपनी वर्तमान दशा का बहुत पुराने जमाने की हालत से तुलना करे तो अवश्य ही वह पहले की दशा को असभ्यता, जंगलीपन, गँवारूपन कहेगा, और अब बहुत सभ्य, उन्नत होने का अनुभव करेगा। इसके साथ ही उसे अपने आपको पहले की अपेक्षा बहुत सुखी मानना होता है। आदमी सोचता है कि सभ्यता-वृद्धि हो रही है, और उसके साथ मनुष्य का सुख भी बढ़ता जा रहा है।

स्मरण रहे कि सुख-दुख एक काल्पनिक या मनोवैज्ञानिक विषय है। बहुत से आदमी शारीरिक कष्ट या असुविधा का हेतु मौजूद होते हुए भी कुछ दुःख नहीं मानते या वैसी ही स्थिति के दूसरे आदमियों की अपेक्षा बहुत कम दुःख मानते हैं। इसके विपरीत, अनेक आदमी मामूली सी बात पर भी अपने को बहुत दुःखी अनुभव किया करते हैं। हम यहाँ यह सूक्ष्म विचार न करके सुख-दुःख की स्थूल दृष्टि ही ले रहे हैं। अस्तु, यह प्रतीत होता है कि अब आदमी को अपने रोजमर्रा के व्यवहार में, दैनिक जीवन में पहले की भाँति कष्ट सहना या मेहनत-मशक्कत करना नहीं पड़ता और वह अपेक्षाकृत बहुत सुखमय जीवन व्यतीत करता है।

दूसरा पहलू—परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। हम नित्य देखते हैं कि हमारे अनेक भाई-बहिनों को अपनी साधारण बुनियादी जरूरतें पूरी करने के लिए दिन-रात पसीना बहाना पड़ता है, फिर भी उन्हें अपना गुजारा करने के लिए काफी भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता, फिर, दूसरी बातों का तो जिक्र ही क्या! अनेक स्थानों में बेकारी, बीमारी, नीरसता और अज्ञान का साम्राज्य है। इसका कारण हमारी

दूषित व्यवस्था है—वह चाहे समाज-व्यवस्था हो, अर्थ-व्यवस्था हो या राज्य-व्यवस्था हो। यदि संसार की यह व्यवस्था सुचारु रूप से संचालित हो तो साधारणतया मनुष्य के उपर्युक्त कष्ट न रहें। मनुष्य ने अपनी सभ्यता में इतनी प्रगति कर ली है कि यदि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे, सब आदमी मिलजुल कर सद्भाव, सहयोग और प्रेम से रहें तो उनकी जीवन-यात्रा अच्छी तरह हो सकती है। पर ऐसा नहीं हो रहा है।

आत्मज्ञान की आवश्यकता—इससे स्पष्ट है कि आदमी अपनी बुद्धि का सदुपयोग नहीं कर रहा है। वह अपनी विद्या को अनावश्यक विवाद, तर्क-वितर्क, बहस-मुबाहसे और लड़ाई-झगड़े में लगाता है। वह अपने धन से अहंकार, अभिमान, घमंड, विलासिता का शिकार होता है। वह अपनी शक्ति को सेवा और परोपकार में न लगा कर दूसरों को सताने, मारने-काटने में लगाता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ऊँची और दीर्घकालीन सभ्यता का दम भरने वाले, अनेक धर्म-ग्रन्थों, शास्त्रों और दर्शनों की विरासत रखने वाले विद्वान अपना जीवन कैसा हीन और निरुपयोगी बनाये हुए हैं। सभ्य और उन्नत राष्ट्र मानवता के रक्षक न होकर, हिंसक अस्त्रों का निर्माण करके दूसरों के लिए तथा स्वयं अपने लिए खतरनाक समस्या बने हुए हैं। अनेक शक्तियाँ रचनात्मक या सृजनात्मक कामों में न लग कर विध्वंसक और विनाशात्मक कामों में लग रही हैं।

बात यह है कि बुद्धि के साथ आत्मज्ञान अवश्य होना चाहिए। आत्मज्ञान से आदमी को आत्मा की व्यापकता का बोध होता है, और वह अपने और पराये के भेद-भाव से बचकर समाज के व्यापक हित में लगता है। विनोबा ने इस इस बात को समझाते हुए कहा है—'अगर मेरे चित्त में अशांति है, तो वह मेरी अशांति है और आपके दिल में अशांति है, तो वह भी मेरी अशांति है। यह व्यापक सम्बन्ध जब ध्यान में आवेगा, तभी आत्मा का दर्शन होगा। हरएक के सुख-दुःख का मेरे

साथ सम्बन्ध है और हरएक की मानसिक शांति-अशांति मेरी ही शांति-अशांति है। मैं दूसरे को अपने से भिन्न समझूँगा, तो मैं गलत समझूँगा। यहाँ जो कुछ है, वह सब एक ही वस्तु है, चाहे उसका नाम "मैं" हो, "तुम" हो या "वह" हो।'

मनुष्य मानवता प्राप्त करे—मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान से सब-कुछ नहीं तो बहुत-कुछ प्राप्त करने की कोशिश की, और उसमें उसे कुछ सफलता भी मिली। पर आत्म-ज्ञान की कमी के कारण उसने अपने आपको प्राप्त न किया; मानवता या इन्सानियत हासिल करने में पिछड़ा रहा। जिन लोगों का संसार में प्रभुत्व है, जो अपनी धाक जमा रहे हैं, वे चाहे जैसे शिक्षित, गुणवान, सभ्य, उन्नत और प्रगतिवान समझे जाते हों, उनमें उन गुणों की कमी है, जो मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाते हैं, उसे मनुष्यत्व प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि जिस तरह घोड़े का गुण उसकी तेज चाल है, गाय का गुण उसके दूध का परिमाण है, इसी तरह मनुष्यत्व की माप के लिए देखना होगा कि उसमें मानवता कितनी है, उसमें बंधुत्व या भाई-चारे की भावना कितनी है, वह दूसरों को सुखी देखकर कितना सुख मानता है, और दूसरों को दुखी देखकर उसका हृदय कितना द्रवित हो जाता है, पिघल जाता है, और उनके दुःख को दूर करने के लिए वह कितना कष्ट उठाने के लिए तैयार रहता है, उनकी रक्षा करने, उन्हें सुख पहुँचाने के लिए वह अपनी जान जोखम में डालने के लिए कितना उत्सुक रहता है।

श्री रामचरण महेन्द्र के एक अंग्रेज मित्र ने उनसे कहा था—'प्रिय! तुम इस रूप में तो मेरा सम्मान करते हो कि मैं कवि हूँ, लेखक हूँ, पंडित हूँ, अच्छा अध्यापक हूँ, कलाकार भी हूँ, किन्तु क्या तुमने कभी यह ज्ञात करने की चिन्ता की है कि मैं मनुष्य भी हूँ अथवा नहीं। क्योंकि यदि मैं मनुष्य हूँ तो सब-कुछ हूँ, और यदि 'मनुष्य' नहीं हूँ तो मिट्टी

का ढेला मात्र हूँ। अन्तर केवल यही है कि मशीन की भाँति मैं बोलता-चालता तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ करता हूँ और जड़ मिट्टी का ढेला निश्चेष्ट पड़ा रहता है।'*

मानवता का मूलः अहिंसा—मानवता के अन्तर्गत जिन-जिन गुणों का समावेश होता है, उनकी कोई खास सर्वमान्य सूची नहीं बनायी जा सकती। प्रायः एक गुण का दूसरे गुणों से सम्बन्ध होता है, यहाँ तक कि एक गुण का समावेश दूसरे में हो सकता है। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि विविध विचारक इन गुणों की अलग-अलग ढंग से गणना करें; कोई किसी एक को विशेष महत्व दे, और दूसरा उसे गौण समझे या स्वतंत्र गणना योग्य ही न माने। हम देखते हैं कि किसी विचारक या धर्म-प्रवर्तक ने किन्हीं खास बातों को मानव-धर्म का लक्षण माना, दूसरे ने दूसरी बातों को। इस प्रकार विविध महानुभाव मनुष्य को तरह-तरह के गुणों का आचरण करने का परामर्श प्रदान करते रहे हैं। आधुनिक युग में गाँधी जी ने ग्यारह व्रतों का पालन आवश्यक ठहराया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी, स्पर्शभावना (सामाजिक समानता)। श्री विनोबा ने इनमें नम्रता और दृढ़ता को और जोड़ दिया है।

इस विषय में एक खास बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह यह है कि प्रायः सभी आचार्यों या धर्माधिकारियों और नीतिकारों ने मनुष्य के लिए अहिंसा और सत्य को मुख्य माना है, और इन गुणों को अपनी-अपनी सूची के आरम्भ में ही स्थान दिया है। इन दोनों गुणों का भी परस्पर में बहुत सम्बन्ध है। गाँधी जी ने सत्य को साध्य और अहिंसा को उसका साधन माना है। अस्तु, उन्होंने अहिंसा को जीवन-धर्म कहा है। हम भी मानवता का मूल अथवा प्रधान गुण अहिंसा को ही समझ कर उसका चिन्तन करते हैं।

---

* 'दैवी सम्पदाएँ' पुस्तक से।

विशेष वक्तव्य—अगले पृष्ठों में हम यह विचार करेंगे कि मनुष्य ने अपने सामूहिक जीवन में अहिंसा को कहाँ तक ग्रहण किया है, उसने इस दिशा में कितनी मञ्जिलें तय की हैं, कितनी यात्रा बाकी है अथवा उसे किस-किस समस्या का सामना करना है और उनका हल किस प्रकार होने की सम्भावना है। स्पष्ट है कि विषय बहुत जटिल है; हमें बहुत सी बातों का यथेष्ट दर्शन नहीं है, इस लिए स्वाभाविक है कि वे काफी स्पष्ट न हो सकें। पाठक उन पर स्वयं विचार करें; उनके चिन्तन-मनन से ही उन्हें समुचित लाभ होगा।

——

दूसरा अध्याय

अहिंसा क्या है ?

अहिंसा केवल निवृत्ति रूप कर्म या अक्रिया नहीं है, बल्कि बलवान प्रवृत्ति या प्रक्रिया है। प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है।

—'गाँधी विचार दोहन'

साम्यवाद को तुरंत कार्यान्वित करने की सिफत का नाम ही अहिंसा है। अतः साम्यवाद में विवेक को स्थान दिया जाय, तो उसका दूसरा नाम अहिंसा ही होगा।

—विनोबा

अहिंसा सम्बन्धी अन्य प्रश्नों का विचार करने के लिए पहले यह जान लेना जरूरी है कि अहिंसा किसे कहते हैं, उसका वास्तविक अर्थ क्या है। इस अध्याय में इसी बात का विचार किया जायगा, और इसके लिए गाँधी जी के लेखों और वाक्यों से विशेष सहायता ली जायगी; कारण वह इस विषय के आधुनिकतम और सर्वश्रेष्ठ आचार्य रहे हैं। श्री विनोबा उन्हीं के महान शिष्य हैं। इस युग में अनेक सज्जनों ने अहिंसा की प्रेरणा उनसे ही ली है और ले रहे हैं।

अहिंसा, व्यापक और विधायक—प्रायः यह समझा जाता है कि अहिंसा का अर्थ इतना ही है कि किसी की हत्या न की जाय; अथवा इससे अधिक यह हो सकता है कि किसी को कष्ट न दिया जाय, हानि न पहुँचायी जाय, अपशब्द न कहा जाय। इस प्रकार अहिंसा को निषेधात्मक या नकारात्मक माना जाता है और इसका क्षेत्र कुछ खास इने-गिने कार्यों को न करने तक सीमित समझा जाता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। गाँधीजी ने बताया है कि 'अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो

आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना, इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा करना भी हिंसा है।[१] अहिंसा का आचरण करने के लिए इस हिंसा से बचना चाहिए। पर यह तो केवल नकारात्मक या अभावात्मक बात हुई। अहिंसा में इसका समावेश अवश्य है, पर इसके साथ उसका महत्त्वपूर्ण रूप भावात्मक या विधायक है। अहिंसा का अर्थ है, प्रेम, सद्भावना, सेवा और आत्मीयता का व्यवहार।

गाँधीजी ने कहा है, 'दूसरे के लिए प्राणार्पण करना प्रेम की पराकाष्ठा है और उसका शास्त्रीय नाम अहिंसा है।[२] अर्थात् यों कह सकते हैं कि अहिंसा ही सेवा है। संसार में हम देखते हैं कि जीवन और मृत्यु का युद्ध होता रहता है, परन्तु दोनों का परिणाम मृत्यु नहीं जीवन है।[३]

'प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है, पर जिस प्रेम में राग या मोह की गंध आती हो, वह अहिंसा नहीं हो सकता। जहाँ राग, मोह होता है वहाँ द्वेष का बीज भी होगा ही। प्रेम में बहुधा राग, द्वेष पाये जाते हैं। इसलिए तत्वज्ञों ने प्रेम शब्द का प्रयोग न कर अहिंसा शब्द लिया और उसे परम धर्म बतलाया।

'अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्वेग पहुँचाने वाली

---

१ 'मङ्गल प्रभात' पुस्तक से

२ 'आध्यात्मिक गुणों का विशुद्ध रूप नकारात्मक रखने की ज्ञानियों की पद्धति है। उदाहरणार्थ अहिंसा, अद्वेष इत्यादि। नकारात्मक भाषा से निरहङ्कारता रहती है, अपने पास कर्तव्य नहीं आता है। लेकिन प्रयत्न विधायक ही करने होते हैं। दया-मैत्री निरन्तर चित्त में भर कर बहने लगनी चाहिए और इतना होकर भी उसका भान नहीं होना चाहिए।' [विनोबा, 'सर्वोदय' नवम्बर १९५० में]

३ 'हिन्दी नवजीवन' १५-९-२७

वाणी न बोलकर और कर्म न करके अथवा मन में भी उनके प्रति द्वेष-भाव न आने देकर संतोष नहीं मानता; बल्कि वह जगत में फैले हुए दुःखों को देखने, समझने और उनके उपाय ढूँढ़ने का प्रयत्न करता रहेगा और दूसरों के सुख के लिए स्वयं प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट सहेगा।'*

यह एक उच्च सक्रिय भावना है—आदमी बिना खास विचार किये, रूढ़ि या परम्परा के तौर से अहिंसक व्यवहार कर सकते हैं, वह अच्छा तो है, पर वह वास्तव में अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो तभी है, जब आदमी इसका खूब विचार-पूर्वक, पालन करें और इसमें आने वाली बाधाओं के प्रति सजग रहें, उनका दृढ़ता से सामना करें और इसके लिए प्रत्येक प्रकार का कष्ट सहन करें। गाँधीजी का कथन है—'रूढ़ि या आवश्यकता के कारण पाली जाने वाली अहिंसा में भौतिक परिणाम भले ही आवें, किन्तु खुद अहिंसा एक ऊँचे प्रकार की भावना है, और उसका आरोपण तो उसी आदमी के सम्बन्ध में किया जा सकता है, जिसका मन अहिंसक है और जो प्राणीमात्र के प्रति करुणा से, प्रेम से उभरा पड़ता है। खुद किसी दिन मांसाहार किया नहीं, किन्तु क्षण-क्षण में क्रोध करता है, दूसरों को लूटता है, लूटने में नीति-अनीति की पर्वाह नहीं करता, जिसे लूटता है, उसके सुख-दुःख की फिक्र नहीं रखता, वह आदमी किसी तरह अहिंसक मानने लायक नहीं है। किन्तु यह कहना चाहिए कि वह घोर हिंसा करने वाला है। इसके उलटे, मांसाहार करने वाला वह आदमी जो प्रेम से उभरा पड़ता है, राग-द्वेष आदि से मुक्त है, सब के प्रति सम-भाव रखता है, वह अहिंसक है, पूजा करने योग्य है। अहिंसा का ख्याल करते हुए हम हमेशा केवल खान-पान आदि विचार करते हैं। यह तो मूर्च्छा है। जो मोक्षदायी है, जो परम धर्म है, जिसके निकट हिंसक प्राणी अपनी हिंसा छोड़ देते हैं,

*गांधी विचार दोहन; ले०—श्री किशोरीलाल मश्रूवाला

दुश्मन वैर-भाव का त्याग करते हैं, कठोर हृदय पिघल जाते हैं, वह अहिंसा कोई अलौकिक शक्ति है और वह बहुत तपश्चर्या के बाद किसी-किसी का ही वरण करती है।'*

अहिंसा में प्रायः सभी महान गुणों का समावेश—गीता में दैवी सम्पत्ति में २६ गुणों की गणना की गयी है।† इस ओर ध्यान दिलाते हुए विनोबा ने अपनी 'गीता प्रवचन' पुस्तक में कहा है—'सामने निर्भयता और पीछे नम्रता को रखकर सब सद्गुणों का विकास किया जा सकेगा। इन दो महान गुणों के बीच जो चौबीस गुण रखे गये हैं वे सब अधिकतर अहिंसा के ही पर्यायवाची हैं, ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह—ये सब अहिंसा के ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा और सत्य इन दो गुणों में इन सब सद्गुणों का समावेश हो जाता है। सब सद्गुणों का यदि संक्षेप किया जाय तो अन्त में अहिंसा और सत्य ये ही दो बाकी रह जायंगे। शेष सब सद्गुण इनके उदर में समा जायँगे।'

---

*'हिन्दी नवजीवन', १९–७–२८

†१—अभय, २—सत्व संशुद्धि अर्थात् सत्व गुण में से सुखासक्ति रूपी अशुद्धता को त्याग देना, ३—ज्ञानपूर्वक कर्म करने की स्थिति, ४—दान, ५—दम अर्थात् इन्द्रिय दमन, ६—यज्ञ अर्थात् कर्त्तव्य-निष्ठा, ७—स्वाध्याय, ८—तप, ९—आर्जव अर्थात् अकपट बर्ताव, १०—अहिंसा, ११—सत्य, १२—अक्रोध, १३—त्याग, १४—शान्ति, १५—अपैशुन अर्थात् किसी की निन्दा या चुगली न करना, १६—भूत-दया, १७—अलोलुपत्व अर्थात् लोभ न होना, १८—मार्दव अर्थात् दूसरों के दुख से दुखी होना, १९—ह्री अर्थात् अनुचित आचरण में लज्जा, २०—अचापल (चंचल न होना), २१—तेज, २२—क्षमा, २३—धृति या धैर्य, २४—शौच (शरीर और मन की शुद्धि), २५—अद्रोह, और २६—नातिमानता अर्थात् नम्रता।

अहिंसा के उपसिद्धान्त आदि—उपर्युक्त कथन से अहिंसा के लक्षण आदि के विषय में अच्छी जानकारी हो सकती है, तथापि इस प्रसंग में गांधी जी के बताये हुए अहिंसा के नीचे लिखे पाँच उपसिद्धान्त ध्यान में रखने चाहिएँ—

(१) जहाँ तक मानवीय दृष्टि से सम्भव है, वहाँ तक पूर्ण आत्म-शुद्धि अहिंसा के अन्दर निहित है।

(२) मनुष्य-मनुष्य के बीच मुकाबला करें तो मालूम होगा कि अहिंसक मनुष्य में हिंसा करने की जितनी ही शक्ति होगी उतनी ही मात्रा में उसकी अहिंसा का माप हो जायगा। [यहाँ कोई हिंसा की शक्ति के बदले हिंसा की इच्छा समझने की भूल न करे। अहिंसक में हिंसा की इच्छा तो कभी नहीं हो सकती।]

(३) बिना अपवाद के अहिंसा हिंसा से श्रेष्ठ शक्ति है, अर्थात् हिंसक व्यक्ति में उसके हिंसक होने की दशा में जो शक्ति होती है, उससे अहिंसक होने की दशा में सदा अधिक शक्ति होती है।

(४) अहिंसा में हार जैसी कोई चीज हो नहीं है। हिंसा के अन्त में तो निश्चित हार ही है।

(५) अगर अहिंसा के सम्बन्ध में 'जीत' शब्द का प्रयोग किया जा सके तो कहा जा सकता है कि अहिंसा का अन्तिम परिणाम निश्चित विजय है। पर असल में देखें तो जहाँ हार का भाव ही नहीं है, वहाँ जीत का भी कोई भाव नहीं हो सकता।

'....अहिंसा श्रद्धा और अनुभव की वस्तु है, एक सीमा से आगे तर्क की वह चीज नहीं है।†

'जहाँ अहंकार है, वहाँ हिंसा अवश्य है। प्रत्येक कार्य करते समय मन में यह प्रश्न कर लेना चाहिए कि यहाँ मैं (अहंकार) हूँ या नहीं। जहाँ मैं (अहंकार) नहीं है वहाँ हिंसा नहीं है।'

---

† 'हरिजन', १२ अक्तूबर ३५

'अहिंसा का स्वभाव ही यह है कि वह दौड़-दौड़ कर हिंसा के मुख में चली जाय। और हिंसा का स्वभाव है कि दौड़-दौड़ कर जो जहाँ मिले उसको खा जाय।'[१]

'परस्पर विश्वास और सरल चित्त से दूसरों की बात समझ लेने की तैयारी—यही अहिंसा का राजमार्ग है।' [गांधी सेवा संघ सम्मेलन, वृन्दावन (बिहार), ५-५-३६]

अहिंसा और कायरता—प्रायः आदमी अहिंसा को कायरता का ही एक रूप मानते हैं। वे विरोधी से डर कर (अथवा किसी लोभ के वश होकर) उसका विरोध करने से या उसके प्रति कोई हिंसात्मक व्यवहार करने से रुके रहते हैं और अपने इस व्यवहार को अहिंसा समझते हैं और कहते हैं। पर यह तो उनका मिथ्या दम्भ है, दूसरों को तथा स्वयं अपने आपको धोखा देना है। गांधी जी ने इस बात की ओर जनता का ध्यान बारबार आकर्षित किया है। उदाहरण के तौर पर उन्होंने कहा है—'अहिंसा और कायरता परस्पर विरोधी शब्द हैं। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है; कायरता बुरी से बुरी बुराई है। अहिंसा का मूल प्रेम में है; कायरता का घृणा में। अहिंसक सदा कष्ट-सहिष्णु होता है; कायर सदा पीड़ा पहुँचाता है। सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है।'[२] 'चाहे जो हो, कायरता को तो छोड़ ही देना है। अहिंसा लाचार और भीरुओं के लिए नहीं है।'[३] 'मेरा मतलब यह है कि हमारी अहिंसा उन कायरों की न हो जो लड़ाई से डरते हैं, खून से डरते हैं, हत्यारों की आवाज से जिनका दिल कांपता है। हमारी अहिंसा तो पठानों की अहिंसा होनी चाहिए।'[४]

---

१ 'गांधी सेवा संघ सम्मेलन; वृन्दावन (बिहार) ३-५-३९

२ 'हिन्दी नवजीवन' ३१-१०-२९

३ गांधी सेवा संघ सम्मेलन, डेलांग, २६ मार्च ३८

४ गांधी सेवा संघ सम्मेलन, डेलांग, २७ मार्च ३८

कायरता और हिंसा—गांधी जी ने कायरता को हिंसा ही माना है। उन्होंने कहा है—'डर कर भाग जाना कायरता है, और कायरता से न समझौता हो सकेगा, न अहिंसा को ही कुछ मदद मिलेगी। कायरता हिंसा की एक किस्म है और उसे जीतना बहुत दुश्वार है। हिंसा से प्रेरित मनुष्य को हिंसा छोड़कर अहिंसा की उत्तम शक्ति ग्रहण करने की बात समझाने में सफल होने की आशा की जा सकती है, लेकिन कायरता तो सब प्रकार की शक्ति का अभाव है। वे जो मरना जानते हैं, उन्हें मैं अपनी अहिंसा सफलता-पूर्वक सिखा सकता हूँ; जो मरने से डरते हैं, उन्हें मैं अहिंसा नहीं सिखा सकता।'[१]

'सच बात यह है कि कायरता खुद ही एक सूक्ष्म, और इस लिए भीषण प्रकार की; हिंसा है और शारीरिक हिंसा की अपेक्षा उसे निर्मूल करना बहुत ही मुश्किल है।'[२]

कायरता से तो हिंसा ही अच्छी—इसलिए कायरता को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। कायरता से तो हिंसा ही बेहतर है। गांधी जी ने कहा है—'जहाँ सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच एक के चुनाव की बात हो तो वहाँ मैं हिंसा के पक्ष में राय दूँगा।[३]' 'मेरे अहिंसा धर्म में खतरे के वक्त अपने अजीजों को मुसीबत में छोड़ कर भाग खड़े होने के लिए जगह नहीं। मारना या नामर्दी के साथ भाग खड़ा होना—इनमें से यदि मुझे किसी बात को पसन्द करना पड़े तो मेरा उसूल कहता है कि मारने का—हिंसा का रास्ता पसन्द करो।'[४]

'मेरा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि औरों की रक्षा के लिए अपनी जान दे दो; दूसरे को मारने के लिए हाथ तक न उठाओ। पर धर्म मुझे

---

१ 'हिन्दी नवजीवन' १५-१०-२५.

२ हिन्दी नवजीवन' ८-१-२५

३ 'यंग इंडिया', ११ अगस्त २०

४ 'हिन्दी नवजीवन' १-९-२४

यह कहने की भी छुट्टी देता है कि अगर ऐसा मौका आवे कि अपने आश्रित लोगों या जिम्मे का काम छोड़ कर भाग जाने या हमला करने वाले को मारने में से किसी एक बात को पसन्द करना हो तो यह हर शख्स का कर्तव्य है कि वह मारते हुए वहीं मर जाय, अपनी जगह छोड़ कर भागे हरगिज नहीं। मुझे ऐसे हट्टे-कट्टे लोगों से मिलने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है जो सीधे-सरल भाव से आकर मुझसे कहते हैं, और जिसे मैंने बड़ी शरम के साथ सुना है, कि मुसलमान बदमाशों को हिन्दू अबलाओं पर अत्याचार करते हुए हमने अपनी आँखों से देखा है। जिस समाज में जवांमर्द रहते हों, वहाँ बलात्कार की आँखों देखी गवाहियाँ देना असम्भव होना चाहिए। एक भोला-भाला पुजारी, जो अहिंसा का मतलब नहीं जानता था, मुझसे खुशी-खुशी आकर कहता है—साहब, जब हुल्लड़बाजों की भीड़ मन्दिर में मूर्ति तोड़ने को घुसी तो मैं बड़ी होशियारी से छिप रहा। मेरा मत है कि ऐसे लोग पुजारी होने के लायक बिल्कुल नहीं हैं। उसे वहीं मर जाना चाहिए था। तब अपने खून से उसने मूर्ति को पवित्र कर दिया होता। और अगर उसे यह हिम्मत न थी कि अपनी जगह पर बिना हाथ उठाये और मुँह से यह प्रार्थना करते हुए कि 'ईश्वर इस खूनी पर रहम कर' मर मिटे तो उस हालत में उन मूर्ति तोड़ने वालों का संहार करना भी उसके लिए ठीक था। परन्तु अपने नश्वर शरीर को बचाने के लिए छिप रहना मनुष्योचित न था।'*

अहिंसा वीर-धर्म है—अच्छा, यदि कायरता एक प्रकार की हिंसा है और हिंसा से भी बुरी है तो अहिंसा क्या है। हमारे जीवन-व्यवहार में, वास्तव में अहिंसा तभी समझी जायगी जब हम विरोधी पक्ष के कमजोर होने पर अर्थात् हमारे बलवान होने की दशा में भी हम हिंसा का व्यवहार न करें। इस प्रकार अहिंसा कायरों के वश की नहीं, वह तो वीरों की कृति है।

---

*'हिन्दी नवजीवन', ८-१-२५

गांधी जी ने कहा है—'अहिंसा डरपोक का अस्त्र नहीं। वह तो परम पुरुषार्थ है; वीरों का धर्म है। सत्याग्रही बनना है तो आपका अज्ञान, आलस्य सब दूर हो जाना चाहिए। सतत जागृति आप लोगों में आनी चाहिए।'१

'मैंने तो पुकार-पुकार कर कहा है कि अहिंसा—क्षमा—वीर का लक्षण है। जिसे मरने की शक्ति है, वही मारने से अपने को रोक सकता है।....कायरता कभी धर्म हो ही नहीं सकती। संसार में तलवार के लिए जगह जरूर है। कायर का तो क्षय ही हो सकता है। उसका क्षय ही योग्य भी है। परन्तु मैंने तो यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि तलवार चलाने वाले का भी क्षय ही होगा। तलवार से मनुष्य किस को बचायेगा और किस को मारेगा! आत्मबल के सामने तलवार का बल तृणवत् है। अहिंसा आत्मा का बल है। तलवार का उपयोग करके आत्मा शरीरवत् बनती है। अहिंसा का उपयोग करके आत्मा आत्मवत् बनती है।'२

'डर कर जो हिंसा नहीं करता, वह तो हिंसा कर ही चुका है। चूहा बिल्ली के प्रति अहिंसक नहीं, उसका मन तो निरंतर बिल्ली की हिंसा करता रहता है। निर्बल होने के कारण वह बिल्ली को मार नहीं सकता। हिंसा करने की पूरी सामर्थ्य रखते हुए भी जो हिंसा नहीं करता है, वही अहिंसा-धर्म का पालन करने में समर्थ होता है। जो मनुष्य स्वेच्छा से और प्रेम-भाव से किसी की हिंसा नहीं करता, वही अहिंसा धर्म का पालन करता है। अहिंसा का अर्थ है, प्रेम, दया, क्षमा। शास्त्र उसका वर्णन वीर के गुण के रूप में करते हैं। यह वीरता शरीर की नहीं, बल्कि हृदय की है।'३

'अहिंसा कुछ डरपोक का, निर्बल का धर्म नहीं है। वह तो बहादुर और जान पर खेलने वाले का धर्म है। तलवार से लड़ते हुए जो मरता

---

१ 'हरिजन सेवक', २०-५-२९

२ 'हिन्दी नवजीवन', २८-९-२४

३ 'हिन्दी नवजीवन', २०-८-२५

है, वह अवश्य बहादुर है, किन्तु जो मारे बिना धैर्य-पूर्वक खड़ा-खड़ा मरता है वह अधिक बहादुर है।...मार के डर से जो अपनी स्त्रियों का अपमान सहन करता है, वह मर्द रहकर नामर्द बनता है। वह न पति बनने लायक है, न पिता या भाई बनने लायक है।...जहाँ नामर्द बसते हैं, वहाँ बदमाश तो होंगे ही।*

'अहिंसा क्षत्रिय का धर्म है। महावीर क्षत्रिय थे। बुद्ध क्षत्रिय थे। राम-कृष्ण आदि क्षत्रिय थे। ये सब थोड़े या बहुत अहिंसा के उपासक थे। हम उनके नाम पर भी अहिंसा का प्रवर्त्तन चाहते हैं। लेकिन इस समय तो अहिंसा का ठेका भीरू वैश्य-वर्ग ने ले रखा है। इसलिए वह धर्म निस्तेज हो गया है। अहिंसा का दूसरा नाम है क्षमा की परिसीमा। लेकिन क्षमा तो वीर पुरुष का भूषण है। अभय के बिना अहिंसा नहीं हो सकती।'†

विशेष वक्तव्य—आशा है, उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा का रूप या प्रकृति स्पष्ट हो जायगी। संक्षेप में, यद्यपि उसके अनुसार कुछ कार्यों को करने का निषेध है, वह एक विधायक कार्यक्रम है, केवल स्थूल रूप में ही नहीं, वरन् सूक्ष्म रूप में भी। वह कार्य मन से, वचन से तथा कर्म से होता है। इसमें प्रायः सभी मानवी गुणों का समावेश हो जाता है, इसलिए हम इसे मानवता या इन्सानियत का पर्यायवाची कह सकते हैं। मनुष्यों को सच्चे वीर और मनुष्य बनने के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। इस विषय पर कुछ विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

---

*'हिन्दी नवजीवन', ११—१०-२८

† 'हिन्दी नवजीवन', २८-१०-२६

तीसरा अध्याय

अहिंसा क्यों ?

वास्तव में जीवन का उच्चतम या एकमात्र नियम है प्रेम, या दूसरे शब्दों में मनुष्यों की आत्माओं का एकत्व की ओर प्रयास और उस (प्रयास) से उत्पन्न एक दूसरे के प्रति विनम्र व्यवहार। जीवन के सर्वश्रेष्ठ नियम के रूप में प्रेम से किसी प्रकार का बल-प्रयोग मेल नहीं खाता।

—टाल्स्टाय

यह प्रश्न ही क्यों ?—जहाँ-तहाँ और समय-समय पर यह प्रश्न किया जाता है कि अहिंसा क्यों और किस लिए। यह प्रश्न सुनकर मन यही कहने को होता है कि यह कैसा विवेकहीन या अनावश्यक प्रश्न है, यह उत्तर के योग्य नहीं। पर हम लोग ऐसे वातावरण में रह रहे हैं जो अस्वाभाविक और हिंसात्मक है। यही कारण है कि ऐसे प्रश्न अनावश्यक नहीं समझे जाते। यदि सर्वत्र प्रेम, सहयोग, शान्ति और सेवा की भावना हो तो किसी को यह पूछने का प्रसंग ही न आवे, परन्तु जब कि हम अशान्ति और हिंसा के वातावरण में रहते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक हो गया है कि अहिंसा क्यों ?

प्रश्न का उत्तर—जब कि प्रश्न उपस्थित कर ही दिया जाता है तो इसका उत्तर दे दिया जाय। और उत्तर में दूसरे प्रश्न पूछे जा सकते हैं—क्या आदमी जीवन चाहता है ? क्या आदमी अपने जीवन में विकास चाहता है ? क्या आदमी संगठित होकर प्रेम पूर्वक रहना चाहता है, जो उसके विकास के लिए आवश्यक है ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' में है, अर्थात् यदि मनुष्य जीवन चाहता है, मृत्यु नहीं, वह विकास चाहता है, अवरोध नहीं; वह संगठन चाहता है, विघटन

नहीं—तो अहिंसा आवश्यक ही क्या, अनिवार्य है। आगे इस बात को जरा और स्पष्ट कर दिया जाय।

संसार का आधार अहिंसा है—यह संसार अहिंसा के बल पर ही टिका है; हिंसा से तो इसका विनाश ही हो सकता है। संसार में हिंसा अवश्य है, इसी लिए तो समय-समय पर युद्धादि होते रहते हैं, और जिस अनुपात में वे होते हैं, उस अनुपात में विनाश होता रहता है। परन्तु यह होते हुए भी संसार सर्वथा नष्ट न होकर बना हुआ है, और आगे प्रगति होती जा रही है। इससे स्पष्ट है कि संसार में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की अधिकता है, और वही संसार को टिकाये हुए है। यह समझना गलत है कि युद्ध आदि हिंसा-कार्य से संसार की प्रगति हो रही है। यह प्रगति हिंसा के होते हुए भी हो रही है तो इसका कारण यही है कि संसार में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का व्यवहार कहीं अधिक है।

गांधी जी ने कहा है कि 'संसार आज इस लिए खड़ा है कि यहाँ पर घृणा से प्रेम की मात्रा अधिक है, धोखेबाजी और जोर-जब्र तो बीमारियाँ हैं; सत्य और अहिंसा स्वास्थ्य हैं। यह बात कि संसार अभी तक नष्ट नहीं हो गया है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि संसार में रोग से अधिक स्वास्थ्य है।'*

'यह जगत प्रतिक्षण बदलता है, इसमें संहार की इतनी शक्तियाँ हैं कि कोई स्थिर नहीं रह सकता; लेकिन फिर भी मनुष्य-जाति का संहार नहीं हुआ, इसका अर्थ यही है कि सब जगह अहिंसा ओत-प्रोत है। मैं उसका दर्शन करता हूँ। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के समान अहिंसा संसार की सारी चीजों को अपनी तरफ खींचती है। प्रेम में यह शक्ति भरी हुई है।'†

---

* 'हिन्दी नवजीवन,' १५-१२-२७

† गांधी सेवा संघ सम्मेलन, मालिकांदा (बंगाल), २२-२-४०

अहिंसा जीवन-धर्म है—ऊपर कहा गया है कि इस सृष्टि का आधार अहिंसा है, इसके बिना सृष्टि रह ही नहीं सकती। वास्तव में अहिंसा जीवन-धर्म ही है। गांधी ने लिखा है—'अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन-धर्म न होता तो इस मर्त्य लोक में हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्यु पर प्रत्यक्ष और सनातन विजय-रूप है।' 'अगर मनुष्य और पशु के बीच कोई मौलिक और सबसे महान अन्तर है तो वह यही है कि मनुष्य दिनों-दिन इस धर्म का अधिकाधिक साक्षातकार कर सकता है। संसार के प्राचीन और अर्वाचीन सब सन्त पुरुष अपनी-अपनी शक्ति और मान्यता के अनुसार इस परम जीवन-धर्म के ज्वलंत उदाहरण थे। निस्सन्देह यह सच है कि हमारे अन्दर छिपा हुआ पशु कई बार सहज विजय प्राप्त कर लेता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह धर्म मिथ्या है। इससे तो केवल यह सिद्ध होता है कि यह आचरण में कठिन है।'*

सुख शान्ति के लिए अहिंसा की आवश्यकता—यों आदमी को जीवन के लिए ही अहिंसा की आवश्यकता है, फिर वह सुख-शान्ति चाहता है, और इसके वास्ते उत्पादन और निर्माण-कार्य करना होता है, यह कार्य भी अहिंसा बिना नहीं हो सकता, इसलिए भी अहिंसा आवश्यक है। श्री कामताप्रसाद जैन ने लिखा है—'मानवता का मूलभूत आधार अहिंसा है—प्राणीमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति अहिंसामय है। अतएव दैनिक जीवन में अहिंसा की व्यावहारिक आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में शक्ति का भी अपना स्थान है—शक्ति के बिना जीवन पंगु है। परन्तु वह शक्ति पशु-बल की नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पशु-बल संहारक और घातक है। इसके विपरीत, अहिंसा की शक्ति महान है—अहिंसा-शक्ति से संहार और विनाश नहीं होता, बल्कि उससे निर्माण होता और उत्पादन

---

* 'हरिजन सेवक', २६-९-३६

बढ़ता है, जिसके परिणाम-स्वरूप लोक में सुख-शान्ति बढ़ती है। मानव की जो शक्ति विनाश के उपायों में खर्च होती है, वही मानवता के जाग्रत होने पर निर्माण के कार्यों में व्यय होती है। अहिंसा-संस्कृति की यही सबसे बड़ी सफलता है।*

हिंसा के वातावरण में अहिंसा की विशेष आवश्यकता–अहिंसा की आवश्यकता तो सदा ही होती है, पर जब हिंसा का वातावरण हो तो वह और अधिक आवश्यक होती है। और, हिंसा जितनी अधिक होगी, अहिंसा की आवश्यकता उतनी ही अधिक होगी—जैसे कि अंधकार जितना घोर या गहन होगा, प्रकाश की जरूरत उतनी ही ज्यादा होगी। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि 'जब मानव जाति हिंसा की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है, ऐसे गाढ़े समय में अहिंसा में ही उसका एक मात्र अवलम्बन छिपा है। यदि मानव को महाविनाश में विलीन नहीं हो जाना है तो अहिंसा की चिरन्तन वाणी का उसे पुनः आविष्कार करना होगा। जिस बुद्धि ने अणु की सूक्ष्म शक्ति का विघटन किया है, वही बुद्धि अहिंसा की जीवनी शक्ति का मार्ग समझने की शक्ति रखती है। मानव के कल्याण में आस्था रखनी चाहिए और उन्मुक्त हृदय से अहिंसा के प्रयत्नों का स्वागत करना चाहिए। हिंसा में सर्वत्र मृत्यु है, अहिंसा से दुर्धर्ष जीवन का वेग जन्म लेता है। हिंसा भय का मूल है, अहिंसा अभय का महा-कपाट उन्मुक्त करती है। हिंसा निर्बल का क्षोभ है, अहिंसा बली की धीर वृत्ति है, जिसके आदि, अन्त और मध्य में शान्ति, प्रेम और कैवल्य का अमृत भरा है।

समाज-संगठन अहिंसा से ही होता है—बिना अहिंसा के मानव समाज (तथा प्राणी मात्र) रह ही नहीं सकता। गांधी जी ने कहा है, 'सारा समाज अहिंसा पर उसी प्रकार कायम है जिस प्रकार

*'अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव।'

कि गुरुत्वाकर्षण से पृथ्वी अपनी स्थिति में बनी हुई है। जरा सोचिए तो सही, 'हिंसक पशु-पक्षियों पर मनुष्य ने अपने शरीर-बल से विजय पायी है? घर का सरदार क्षीण-जीर्ण बूढ़ा ही होता है। क्यों? गामा और किंग कांग जैसे भीमकाय मनुष्यों के बजाय बुद्ध, ईसा, गांधी, जवाहर, विनोबा जैसे बूढ़े और दुर्बल शारीरधारियों को ही संसार क्यों आत्म-समर्पण करता है? क्या महाशक्तिशाली सेनाओं का संगठन हिंसा के आधार पर खड़ा होता है? फिर तो यही होगा कि सेना का एक बलवान सिपाही दूसरे दुर्बल सिपाही का जब चाहे बध करदे। पर एक सैनिक दूसरे सैनिक की रक्षा के लिए प्राण दे देता है तो लोग उसकी पूजा और आदर करते हैं। जल्लाद और कसाई को उस सैनिक से अधिक वीर नहीं माना जाता जो बिना किसी का बध किये दूसरों की रक्षा के लिए अपने प्राण देने का साहस करता है।'

स्पष्ट है कि समाज में हमें बात-बात में अहिंसा की आवश्यकता है, यहाँ तक कि सेना आदि हिंसक संगठनों को भी अहिंसा का आसरा लेना पड़ता है। अस्तु, समाज को जीवित रहने, विकास करने और विनाश से बचने के लिए अहिंसा की आवश्यकता है।

चौथा अध्याय

अहिंसा की शक्ति

अहिंसा मानव जाति के पास एक ऐसी प्रबल शक्ति पड़ी हुई है कि जिसका कोई पार नहीं।

—गांधी जी

क्षमा वीरस्य भूषणम्।

—नीति वाक्य

अहिंसा का अर्थ और स्वरूप जान लेने पर अब हम यह विचार करेंगे कि इसकी शक्ति कितनी अद्भुत् और अमोघ है, तथा यह कितनी व्यापक है। वर्तमान अवस्था में लोगों को इसका भान बहुत कम है। वे हिंसा के वातावरण में रहते हैं, और उनके संस्कारों में हिंसा की ही प्रमुखता है। इसलिए उन्हें अहिंसा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा और विश्वास होना कठिन है। तथापि शान्ति और गम्भीरता से विचार करने से उनकी समझ में आ जायगा कि अहिंसा में वह तेज और बल है जिसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की।

अहिंसा की शक्ति सब से अधिक—साधारण नागरिक हिंसा में विश्वास किया करते हैं। यद्यपि अब 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' कहावत पुराने जमाने की मानी जाती है, अब सभ्यता-काल में उसे मान्यता देना ठीक नहीं समझा जाता, पर व्यवहार में अब भी हिंसा का चक्र बहुत चल रहा है। नये-नये अस्त्र-शस्त्र बन गये और बनते जा रहे हैं, जो एक-से-एक अधिक हिंसक होते हैं। प्रत्येक राज्य अपनी सेना और सैनिक सामग्री को अपना बल समझता है और उसी के आधार पर जीता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में इस हिंसा-

शक्ति से अहिंसा-शक्ति कहीं अधिक बलवती है; और मनुष्योचित तो है ही।

गांधी जी ने बताया है, 'मनुष्य की बुद्धि ने संसार के जो प्रचंड से प्रचंड अस्त्र-शस्त्र बनाये हैं, उनसे भी प्रचंड यह अहिंसा की शक्ति है। संहार कोई मानव धर्म नहीं है, मनुष्य अपने भाई को मार कर नहीं, बल्कि जरूरत हो तो उसके हाथ से मर जाने को तैयार रह कर स्वतंत्रता से जीवित रहता हैं। हत्या या अन्य प्रकार की हिन्सा, फिर चाहे वह किसी भी कारण की गयी हो, मानव जाति के विरुद्ध एक अक्षम्य अपराध है।'*

अहिंसा प्राकृतिक शक्तियों से अधिक आश्चर्यजनक —हम लोग भाप, गैस या बिजली आदि से होने वाले कामों को देख कर चकित हो जाते है, पर यदि विचार कर देखें तो अहिंसा उनसे भी अधिक आश्चर्यजनक है। गांधी जी ने एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—

'मैं यह नहीं जानता कि मनुष्य-जाति प्रेम के नियम या कानून का अनुसरण करेगी या नहीं। लेकिन इसमें मुझे परेशान होने की जरूरत नहीं। नियम अथवा कानून अपने आप काम करेगा, जिस तरह कि गुरुत्वाकर्षण का नियम, हम चाहे मानें या न मानें, अपना काम करता रहेगा। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों के प्रयोग द्वारा आश्चर्यजनक बातें पैदा करता है, उसी तरह यदि कोई व्यक्ति, प्रेम का वैज्ञानिक यथार्थता के साथ प्रयोग करे, तो वह इससे अधिक आश्चर्यजनक बातें पैदा कर सकेगा। क्योंकि अहिंसा की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों, उदाहरणार्थ बिजली आदि से कहीं अधिक—अनन्त आश्चर्यजनक और सूक्ष्म है। जिस व्यक्ति ने हमारे लिए प्रेम के नियम अथवा कानून की खोज की, वह आजकल के किसी भी वैज्ञानिक से

---

*'हरिजन सेवक', २६-७-२५

कहीं अधिक बड़ा वैज्ञानिक था। केवल हमारी शोध अभी तक चाहिए, इतनी नहीं हुई है और इसलिए प्रत्येक के लिए उसके परिणाम देख सकना सम्भव नहीं है। कुछ भी हो, यह उसकी एक विशेषता है, जिसके अन्तर्गत मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। प्रेम के इस कानून के लिए मैं जितना अधिक प्रयत्न करता हूँ, उतना ही अधिक मुझे जीवन में आनन्द—इस सृष्टि की योजना में आनन्द—अनुभव होता है। इससे मुझे शान्ति मिलती है और प्रकृति के रहस्यों का अर्थ जान पाता हूँ, जिनका वर्णन करने की मुझमें शक्ति नहीं है।'*

अहिंसा का प्रभाव स्थायी होता है—आदमी हिंसा की ओर आकर्षित इसलिए हो जाता है कि उसका प्रभाव तत्काल दिखायी देता है, परन्तु वह क्षणिक ही होता है, और अनेक बार उसकी प्रतिक्रिया बहुत बुरी होती है। स्थायी लाभ के लिए आदमी को दूर-दृष्टि रखनी चाहिए और ऐसा करने पर उसे अहिंसा को ही अपनाना चाहिए। गांधी जी ने कहा है—'हिन्सा-प्रिय व्यक्ति जब किसी कार्य को करता है तो उसके प्रभाव का तुरन्त पता लगता है, परन्तु वह अस्थायी होता है। एक तरफ हिटलर तथा मुसोलिनी और दूसरी ओर स्टालिन के हिंसात्मक कार्यों का तत्काल प्रभाव पड़ा, परन्तु यह चंगेज-खाँ द्वारा किये गये नर-संहार के समान ही क्षणिक होगा। बुद्ध के अहिंसात्मक कार्यों का प्रभाव अब भी है और समय के साथ-साथ उसके बढ़ने की ही सम्भावना है। जितना ही अहिंसा का पालन किया जाता है, उतना ही इसका प्रभाव गम्भीर और अक्षय होता जाता है। और इसके बाद अन्ततोगत्वा एक दिन आता है, जब संसार विस्फारित नेत्रों से कहता है—यह एक चमत्कार है।'

अन्यत्र गांधी जी ने कहा है—'हिंसा तो पानी के प्रवाह की तरह है। पानी को निकलने का रास्ता मिलते ही उसमें से उसका प्रवाह

---

*'हिन्दी नवजीवन', १-१०-२१'

भयानक जोर से बहने लगता है। अहिंसा पागलपन से काम कर ही नहीं सकती। वह तो अनुशासन का सार तत्व है। किन्तु जब वह सक्रिय बन जाती है तब फिर हिंसा की कोई भी शक्तियाँ उसे पराजित नहीं कर सकतीं।'

पूर्ण अहिंसक की शक्ति के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार—गांधी जी के समय भारत ने जिस अहिंसा की शक्ति का अनुभव किया वह पूर्ण अहिंसा नहीं थी। गांधी जी ने कहा है—'मैंने भारत के सामने अहिंसा का आत्यन्तिक रूप नहीं रखा है; और नहीं, तो इसी लिए कि मैं अपने को अभी वह प्राचीन संदेश देने योग्य नहीं पाता। यद्यपि मेरी बुद्धि ने इसे पूरी तरह समझ और ग्रहण कर लिया है किन्तु अभी तक वह मेरे समस्त जीवन—सम्पूर्ण अस्तित्व—का अंग नहीं बन पाया है।'*

गांधी सेवा संघ की सभा (वर्धा, ता० २२-६-४०) में उन्होंने कहा था—'राम-नाम के विषय में हमने सुना है कि राम-नाम से लोग तर जाते हैं, फिर स्वयं राम ही आ जाये तो क्या होगा! अहिंसा के नाम ने भी इतना किया तो फिर दरअसल हम में सच्ची अहिंसा आ जाव तो हम आकाश में उड़ने लगेंगे।....हमारा शब्द आकाश-गंगा को भी भेदता हुआ चला जायगा। यह जमीन आसमान हो जायगी।'

इसी अवसर पर उन्होंने कहा कि 'मुझमें अहिंसा की अपूर्ण शक्ति है, यह मैं जानता हूँ; लेकिन जो कुछ शक्ति है, वह अहिंसा की ही है। लाखों लोग मेरे पास आते हैं। प्रेम से मुझे अपनाते हैं। औरतें निर्भय हो कर मेरे साथ रह सकती हैं। मेरे पास ऐसी कौन-सी चीज है? केवल अहिंसा की शक्ति है, और कुछ नहीं। अहिंसा की यह शक्ति एक नयी नीति के रूप में जगत को देना चाहता हूँ।'

---

*'यंग इन्डिया', २९ मई २४

अहिंसा का काफी समय प्रयोग करने के बाद भी गांधी जी ने यही कहा—'कभी-कभी यह विचार आता है कि सब छोड़-छाड़ कर एक दम एकान्त में जा कर अपना प्रयोग चला कर देखूँ तो ! अपनी शान्ति और कल्याण साधने के लिए नहीं, किन्तु आत्म-निरीक्षण के लिए, आत्मा की आवाज को अधिक स्पष्टता से सुनने के लिए, जगत के ही कल्याण का प्रतिक्षण विचार हो और इस विचार की सहज-सिद्धि प्राप्त हो सके। तभी मेरा अहिंसा का प्रयोग सफल होगा। पूर्ण अहिंसक मनुष्य गुफा में बैठा हुआ भी सारे जगत को हिला सकता है। पर उस विचार के पीछे पूर्ण एकाग्रता और पूर्ण शुद्धि होनी चाहिए।'† इससे स्पष्ट है यदि अहिंसा पूर्ण रूप में अमल में आये तो उसकी शक्ति कितनी अधिक होगी।

अहिंसक अकेला ही साम्राज्य का मुकाबला कर सकता है—गांधी जी ने कहा है कि 'अहिंसा का अर्थ अत्याचारी की इच्छा के सामने चुपचाप झुक जाना नहीं है, वरन् इसका अर्थ है अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी सारी प्राण-शक्ति लगा देना। हमारे अस्तित्व के इस कानून के अन्तर्गत काम करते हुए अकेले व्यक्ति के लिए भी संभव है कि वह अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए एक अन्यायी साम्राज्य की महान् शक्ति से विरुद्ध खड़ा हो जाय और इस प्रकार उस साम्राज्य के पतन या सुधार की नींव डालदे।'

'एक मानव प्राणी राम का, बंदरों की सेना लेकर दस सिर वाले और समुद्र की गर्जन वाली लहरों के बीच अपनी लंका को सुरक्षित समझने वाले रावण की उद्धत शक्ति से लोहा लेने का और क्या अभिप्राय हो सकता है?—क्या इसका अर्थ आध्यात्मिक शक्ति द्वारा शरीर बल की पराजय नहीं है?'*

---

†'हरिजन सेवक', २७-७-४०

*'यंग इन्डिया', ११ अगस्त २०

विशेष वक्तव्य—प्रायः हम लोग अहिंसा की अपेक्षा हिंसा की शक्ति बहुत अधिक मानते है। यह हमारा भ्रम है। बात यह है कि साधारणतया हमने अहिंसा का उतना अभ्यास या अनुभव नहीं किया है, जितना हिंसा का। कहना चाहिए हमें हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की निहित शक्ति का बहुत ही कम ज्ञान है। यदि व्यवहार में अहिंसा को अपना कार्य दिखाने का वैसा ही अवसर मिले जैसा हिंसा को मिलता है तो इसका चमत्कार निश्चित रूप से सामने आये। गांधी जी ने कहा है—'जिस तरह कहा जाता हैं, कि राम-नाम के प्रताप से पानी पर पत्थर तैरे, उसी तरह अहिंसा के नाम से जो प्रकृति चली, उससे देश में भारी जागृति हुई और हम आगे बढ़े। जिनका विश्वास अचल है वे इस प्रयोग को आगे बढ़ा सकते हैं।' 'सामान्य अनुभव यह है कि बहुत-सी हिंसा का निवारण अहिंसा के द्वारा हो जाता है। इस अनुभव पर से हम अनुमान लगा सकते हैं कि तीव्र हिंसा का प्रतिकार तीव्र हिंसा से हो सकता है।'*

---

*'हरिजन सेवक', २७-७-४०

पांचवाँ अध्याय

आदि मानव-संस्कृति और अहिंसा

आदि मानव की संस्कृति वृक्षों के सहारे पनपी और अहिंसक थी।

—हेनरी वेली स्टीवेन्स

आदि मानव-संस्कृति के विषय में प्रचलित धारणा—प्रायः लोगों की यह धारणा है कि प्रारम्भ में मनुष्य का जीवन पशुओं के समान था और वह लड़ने-झगड़ने वाला तथा मरने-मारने वाला था। वह मांसाहारी था, अथवा कम-से-कम वह मांसाहार से परहेज करने वाला न था। खासकर जब तक उसने खेती करना या पौधे या वृक्ष लगाना नहीं जाना, मांसाहार बिना उसका निर्वाह ही नहीं हो सकता था। ऐसे क्षेत्र बहुत कम थे जहाँ उसे अपने आप पैदा होने वाले फल आदि काफी परिमाण में मिलते। इस प्रकार वह स्वभाव से तथा लाचारी से हिंसक था। अधिकांश लेखकों, इतिहासकारों तथा वैज्ञानिकों आदि ने इसी मत का प्रतिपादन और पुष्टि की है।

दूसरा दृष्टिकोण—खासकर कुछ भारतीय सज्जन तो बहुत समय पहले से ऐसे रहे हैं जिन्होंने यह मत स्वीकार नहीं किया। इधर कुछ समय से यूरोपीय विद्वानों का भी मत क्रमशः बदल रहा है—यद्यपि उनकी संख्या अभी बहुत ही कम है। वे आदि मानव को अहिं-सक मानने लगे हैं इस विषय में वे मनुष्य के शरीर-रचना की दृष्टि से विचार करते हैं, विविध धर्मों के प्रवर्तकों के कथन की व्याख्या करते हैं, और पुरातत्व की खोज से निकलने वाले नतीजों का विश्लेषण करते हैं। और इस प्रकार तर्क और युक्ति से वे यह सिद्ध करते हैं कि आदि मानव की संस्कृति अहिंसक है।

यह बात अनेक पाठकों को कुछ नयी, अजीब, अटपटी लगनी सम्भव है; कारण कि यह उससे विपरीत है जो वे अब तक सुनते या पढ़ते आये हैं। तथापि हमें अपनी धारणा के विरूद्ध कोई बात सुनने में संकोच न करना चाहिए, । बल्कि उसे शांन्ति और गम्भीरता से सुन कर उस पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। यदि हमें उसमें सच्चाई जान पड़े तो हमें उसको ग्रहण करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अस्तु, आदि मानव-संस्कृति के अहिंसक होने के विषय पर श्री कामता-प्रसाद जैन ने अपनी विचारपूर्ण पुस्तक* में विविध सामग्री के आधार पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उससे यहाँ कुछ अंश संक्षेप में दिये जाते हैं।

भागवत की बात—अति प्राचीन काल में, कैलाश की तलहटी में महापुरुष ऋषभदेव ने मीठे-मीठे नरकुलों पर प्रयोग किया और उनकी 'ब्रीड' (जाति) सुधार दी, सुधरे नरकुलों से बड़ा मीठा इक्षु-रस निकला। लोगों, ने उसे पीया तो चकित रह गये। सब ने उस महापुरुष को 'इक्ष्वाकु' नाम से पुकारा। ऋषभ ने कृषि-विज्ञान में और अधिक खोज की। प्रकृति-सुलभ अनाज, चावल, गेहूँ, शाकभाजी की उपज को उन्होंने सुधारा और उनको पका कर खाने की कला का आविष्कार किया। यही कारण है कि ऋषभदेव के काल को विद्वज्जन 'कृषियुग' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं आविष्कारों के कारण जैनों ने ऋषभ को आदि ब्रह्म और आदि तीर्थंकर माना और वैष्णवों ने उनको आठवाँ अवतार घोषित किया। (भागवत, अ० ५)

अयोध्या से आगे तक विचर कर ऋषभ ने मानव को सभ्य जीवन बिताना सिखाया। श्रम करके सुख-शान्ति से जीवन-व्यवहार को चलाने की कला मानव ने सीखी। कोई हिंसक न था, कोई युद्ध न करता था। इसलिए वह भूक्षेत्र 'आयोध्या' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

---

* 'अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव।'

महाभारत की साक्षी—महाभारत (स्त्री० १०-२५-२८) में ऋषि व्यास ने एक शासक को बताया था कि प्राणियों की स्वभावगत प्रकृति पूर्ण अहिंसा-भाव है। उन्होंने कहा 'हे राजन। वह पुरुष जो सर्व प्राणियों को उनके अहिंसक भाव का विश्वास दिलाता है, वह परमोच्च स्थान को प्राप्त होता है। सब को सब वस्तुओं में प्राण ही सब से अधिक प्यारे हैं, इसलिए सब के प्रति दयाभाव रखना उचित है।'

यहूदियों और ईसाइयों की मान्यता—यहूदियों और ईसाइयों ने भी मानव की आदि प्रवृत्ति अहिंसक और मैत्री से परिप्लावित मानी है। वे आदम और हव्वा को मानव जाति के आदि पूर्वज मानते हैं। उनका विश्वास है कि उनके पूर्वज बड़े ही धर्मात्मा थे, पाप उन्हें छू नहीं गया था। बाग अदन में वे शान्ति से फलाहार करते हुए रहते थे। पाप के वर्जित फल खा लेने के कारण ही वे पतित हुए और उनकी सन्तान मानव स्वभाव से शील और शान्ति प्रिय प्राणी है। राग-द्वेष के विषैले फल को चखकर वह अपनी शान्ति को खो बैठता है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत—पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी विद्वानों और प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं जैसे लिन्नैयुस, हक्सले, हेकल, कुवीयर, वेल, लेंकेस्टर, लारेंस और लेहने ने अपनी खोजों से सिद्ध किया है कि मानव मूल में शाकाहारी शांतिमय जीव था— उसका भोजन निरामिष था। पीछे वह अपनी प्राकृत दशा से भ्रष्ट हो गया।

आधुनिक प्राणिशास्त्र स्पष्ट रूप से मानव-प्रकृति को शांत और अहिंसक मानता है। उसका मत है कि मानव जाति के पूर्वज अन्य प्राणियों जैसे ही थे। जब तक उन्होंने खाने-पकाने की कला को नहीं सीखा तब तक उनका जीवन अन्य प्राणियों जैसा रहा। वे झुंडों में रहते और शाकभाजी तथा फल-फूल खाते थे। समय बदला। शाकपात सूरज के ताप से झुलस गये। पानी बरसा, पर मानव की समझ में कुछ

न आया। अन्त में उसने बुद्धि से काम लिया, और धीरे-धीरे सभ्य जीवन बिताना सीख लिया। मूल में मानव शान्त और शाकाहारी था।

एक विरोधी मत, और उसका खंडन—किन्तु फ्रयूड और जंग जैसे कुछ प्रसिद्ध मनोविज्ञानी यह मानते हैं कि मानव में अधिकार जमाने की प्रवृत्ति सहज संज्ञा में पायी जाती है। अतः दूसरे पर आक्रमण करके स्वार्थ-साधना उसकी प्रवृत्ति है। परन्तु जंग महोदय मानव की आध्यात्मिक स्वभावजात वृत्ति को भूल गये, जिसे वह भी दैवी मानते हैं। निस्सन्देह मानव में स्वार्थबुद्धि है, परन्तु साथ ही विवेक-भाव भी है। स्वार्थ वाह्य निमित्तों का ऋणी है, विवेक किसी का ऋणी नहीं, वह स्वतः सिद्ध है। अतः परिग्रह संज्ञा—अधिकार की महत्वाकांक्षा—स्वभाव नहीं, विभाव है, क्योंकि वह निमित्ताधीन है।

हाल ही में अमरीका रिजर्स विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एशले मांटेगू ने प्रयोगों द्वारा फ्रयूड् और जंग की मान्यता को निस्सार सिद्ध कर दिया है। उन्होंने घोषणा की है कि सभी उपलब्ध साक्षी यही बताती है कि मानव जन्म से कोई आक्रमण या लूटने-खसोटने का दुर्भाव लेकर नहीं जन्मता। बालक में यह दुर्भाव बाहरी सम्पर्कों से पनपता है। जो लोग 'योग्यतम के ही जीवित रहने का अधिकार' घोषित करते हैं, वे एक पक्ष की बात कहते हैं। वे मानव जीवन के सहयोग और पारस्परिक सहायता के स्वर्णमयी भावों को भुला देते हैं, जिनके कारण मानव प्रकृति का संतुलन स्थिर है। मानव सब प्राणियों में विशेष बुद्धिमान है, और उसे जैसी चाहो शिक्षा दी जा सकती है। अतः जिस दुर्भाव को विद्वानों ने मानव प्रकृति माना है, वह उसकी प्रकृति नहीं है, बल्कि वह वाह्य सम्पर्कों से बना हुआ विभाव मात्र है।

वास्तव में बात यह है कि मानव में मनन करने की स्वाभाविक क्षमता होने के कारण ही उसे 'मानव' संज्ञा प्राप्त हुई है, और वह अपने विवेक से काम लेता भी है। बुराई से वह घृणा करता है, भलाई को वह अपनाता है। मानव जीवन यदि कटु अनुभवों—मारकाट, लूट-मार—की ही लीला भूमि हो तो सांस लेना भी दूभर हो जाय। हिंस्र पशुओं के जीवन भी अधिकांशतः शान्त और सुख से भरे होते हैं। जब भूख आदि के कारण उनमें पशुता जाग्रत होती है, तभी कुछ क्षणों के लिए वे भयानक हिंस्र बन जाते हैं।

पुरातत्व और अहिंसा—भारतीय पुरातत्व में सम्राट् अशोक के धर्म-लेखों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन लेखों में न केवल मानवों के हित का ध्यान रखा गया है, बल्कि पशुओं की रक्षा का भी विधान मिलता है। यही नहीं, अशोक ने मनुष्यों की चिकित्सा के साथ पशुओं की भी चिकित्सा का प्रबन्ध किया और उनके लिए आवश्यक औषधियों को मंगाने तथा रोपने की व्यवस्था की। अशोक के बाद के समय में भी अहिंसा के प्रचलन का प्रमाण मिलता है। कंकाली टीला, मथुरा, से ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जिन पर पशुओं के चिकित्सालय और न्यायालय के चित्र अंकित हैं।

तुर्किस्तान के अनाऊ स्थान की खुदाई करने पर नौ-दस हजार वर्ष पहले की संस्कृति के चिह्न मिले। खुदाई की सबसे निचली तहों में ऐसा कोई औजार न मिला, जिससे यह सिद्ध होता कि उस प्राचीन काल में लोग पशु-पालन करते अथवा लड़ते-झगड़ते थे।

चीन में लगभग चार हजार वर्ष पुरानी चमत्कारी अस्थियां मिली हैं, जिनका प्रयोग गेहूँ की और बाजरे की फसल का भविष्य जानने के लिए किया जाता था, परन्तु ऐसा एक भी चिह्न नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो कि चीनवासी पशु-पालन करते थे। [इससे अनुमान किया जाता है प्राचीन चीनवासी शाकाहारी ही थे, मांसाहारी नहीं।]

फिलिस्तीन का पुरातत्व ईस्वी-पूर्व ४००० से २००० वर्ष प्राचीन है। वहाँ जव तेलैलातेगस्सुल स्थान की भूमि को खोदा गया तो उस नगर की रक्षा के लिए कोई नगर-प्राचीर आदि का चिह्न नहीं मिला। इससे सिद्ध है कि वे युद्ध करना नहीं जानते थे।

भारत में मोहनजोदड़ों और हड़प्पा नामक स्थानों में जो पुरातत्व उपलब्ध हुआ है, उससे भी यह प्रमाणित है कि सिन्धु उपत्यका के प्राचीन निवासी शाकाहारी या अहिंसक थे, क्योंकि प्राचीन काल के स्तरों में केवल गेहूँ, जौ, छुआरे, कपास अथवा कुल्हाड़ी या हंसिया मिले हैं—तीर-तलवार नहीं मिले हैं। किन्तु उपरान्त काल के अर्वाचीन स्तरों में वे चिह्न मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि मानव ने शांतिपूर्ण अहिंसक जीवन को तिलांजलि देकर संघर्ष करना सीखा था।

मिस्र भी प्राचीन काल में पूर्ण अहिंसक था। किन्तु वहाँ के बारहवें से अठारहवें राजवंशों के मध्यवर्ती काल में जो हेयकसोस (गड़रिया) राजा हुए, उन्होंने पशुपालन की प्रथा को प्रचलित किया यहाँ से ही मिस्र वासियों ने युद्धकला को सीखा और सैनिक वृत्ति को अपनाया।

इस प्रकार विश्व का पुरातत्व भी यही साक्षी देता है कि मानव की आदि संस्कृति अहिंसा है—मानव शाकाहारी और शान्तिप्रिय प्राणी रहा है। मात्र लगभग चार-पाँच हजार वर्ष पहले से उसने शाकाहार छोड़कर हिंसक जीवन अपनाने की धृष्टता की है। परिणाम-स्वरूप तव से ही वह वरावर युद्धों की अग्नि में दहकता आया है। पुरातत्व उसे सावधान करके कहता है कि मानव! तू मानव वन। युद्ध करना तेरी संस्कृति नहीं है।

संस्कृत के विकास में वृक्षों का स्थान—इस अध्याय के आरम्भ में श्री स्टीवेन्स का कथन उद्धृत किया गया है। इस लेखक ने अपनी रचनाओं में यह विस्तारपूर्वक बताया है कि मानव संस्कृति के विकास

में वृक्षों का विशेष महत्वपूर्ण भाग है। इनका कथन है कि (अंग्रेजी शब्द) कलचर (संस्कृति) काश्त या खेती से निकला है। लिखित इतिहास का प्रारम्भ होने के समय बाग-बगीचों में दो सौ से ऊपर खाद्य पौधों की काश्त होती थी। इसका अर्थ यह है कि उस समय हजारों ही नहीं, लाखों वर्ष तक उन्नति का कार्य हो चुका था। वृक्षों से हमने ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त किया, समय का सम्बन्ध सूर्य और तारों से लगाया और अपना केलेन्डर (जंत्री) बनाया। हमने वनस्पति पैदा की, उससे औषधिशास्त्र के सिद्धांत निकाले। पौधों के फूलों पर और उन्हें उगाने वाली शक्ति पर हमें आश्चर्य हुआ, उससे हमारे धर्म का तथा उसके अन्तर्निहित दया और सहानुभूति का प्रदुर्भाव हुआ। पौधों के उगने और फसल तैयार होने के दिन ऐसे महत्व के थे कि उस समय के आस-पास त्योहार मनाये जाने लगे और इस प्रकार नृत्य और गायन-वादन कलाओं का जन्म हुआ। जनेसिस (बाइबल) की इस कथा में मूलभूत सचाई है कि मनुष्य बाग में पैदा हुआ। वहाँ उसने पशु से भिन्न, उससे ऊँचा होना सीखा। वहाँ उसने वह प्रकाश पाया जो हमारी संस्कृति का मुख्य चिह्न है।

प्राचीन बागों की महिमा खासकर उनके पवित्र वृक्ष थे। प्रथम देवता जिनका कहीं उल्लेख मिलता है, वृक्ष देवता थे। सिन्धु घाटी से लेकर क्रीट तक पूर्व-इतिहास-काल की जो सबसे पहली मोहरें मिली हैं, वे फल वाले वृक्षों का महत्व सूचित करती हैं। वेबिलन की खुदाई में बहुत से ऐसे शिला-चित्र मिले हैं जिन में पर वाले देवता खजूर के पेड़ों की सिंचाई कर रहे हैं। वृक्षों को कल्याणकारी आत्मा का प्रायः सम्मान होता रहा है।†

भारत में पीपल, तुलसी, आंवले और चैत्य आदि वृक्षों में अनेक आदमी देवता का वास मानते हैं, और इनकी पूजा करते हैं।

† The Voice of Ahinsa, मार्च-अप्रैल १६५७

भारत में वन्य संस्कृति की प्रधानता—प्राचीन काल में यहाँ वन्य संस्कृति की कितनी प्रधानता रही है, यह इतिहास-पाठकों को भली भांति विदित ही है। यहां ऋषि, मुनि, तपस्वी, ज्ञानी प्रायः वनों में ही रहते थे और उनका समाज में यथेष्ट मान-सम्मान था; यही नहीं राजाओं और राजपुरुषों को भी उनके आदेशानुसार चलना होता था। फिर वनों में अहिंसा का ही वातावरण रहता था, उसमें कोई भी अधिकारी या सत्ताधारी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता था। शकुन्तला नाटक में कण्व ऋषि के आश्रम के बालक राजा दुष्यन्त तक को अधिकार-पूर्वक कहते हैं कि सावधान ! यहाँ शिकार नहीं हो सकता।' राजा उनकी चेतावनी को सुनी-अनसुनी नहीं करता, हिरण को लक्ष्य करके चलाये जाने वाले तीर को तुरन्त तरकश में रख लेता है।

प्राचीन वन्य संस्कृति की महिमा के स्मृति-स्वरूप अब भी भारत में वृक्षों का बड़ा महत्व माना जाता है। कुछ वृक्ष तो पूजे भी जाते है, उन्हें अंशतः काटना भी बड़ा पाप समझा जाता है। यहाँ वृक्ष लगाना बहुत पुण्य कार्य गिना जाता है। बात यह है कि वनों से केवल भौतिक संपत्ति ही नहीं, शुद्ध वायु और प्रकृति की निकटता भी प्राप्त होती है। और प्राकृतिक तथा सरल जीवन बहुत अहिंसात्मक होता है।

विशेष वक्तव्य—आदि मानव संस्कृति के विषय में किसी की मान्यता चाहे जो हो, उपर्युक्त बातों पर यथेष्ट विचार किया जाना चाहिए। हमें इस समय अपनी संस्कृति को अधिक से अधिक अहिंसक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, और वन-महोत्सव आदि में नाममात्र का या कुछ दिखावटी नहीं, वास्तविक रचनात्मक भाग लेना चाहिए; इसके लिए वर्ष में किसी खास सप्ताह ही नहीं, निरंतर ही हमें अपनी दृष्टि उस ओर रखकर वृक्ष लगाने और उनकी रक्षा करने की व्यवस्था करनी चाहिए। यह अहिंसा में सहायक है, यह पहले कहा जा चुका है।

———

छठा अध्याय

भारतीय धर्मों में अहिंसा

अहिंसा हिन्दू धर्म का असली सार है। आपकी गीता ने अहिंसा सिखायी है।

—गांधी जी

श्रमण संस्कृति के अग्रणी ऋषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थकरों ने भारत की जनता को आदि काल से ही यह उपदेश दिया कि 'सब प्राणियों को जीवन प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सब के प्रतिकूल है, इससे किसी को मारना अथवा कष्ट पहुँचना उचित नहीं है।'

—कामताप्रसाद जैन

संसार के सभी प्रमुख धर्मों के प्रवर्तकों या आचार्यों ने प्रेम, सद्भाव, सेवा और सहयोग का—अहिंसा का—संदेश दिया है। इस अध्याय में भारत के खास-खास धर्मों की अहिंसा सम्बन्धी विचार धारा उपस्थित की जाती है ? पहले हिन्दू धर्म की बात लें।

[१] हिन्दू धर्म

जिसे अब हिन्दू धर्म कहा जाता है, इसका यह नाम बहुत प्राचीन काल से नहीं है। पहले इसे वैदिक या सनातन धर्म कहा जाता था। इसके मानने वाले आर्य कहलाते थे। इस धर्म का प्रवर्तक कोई खास महापुरुष नहीं हुआ, इसकी रचना में अनेक सज्जनों ने योग दिया, जिनके विचारों और आदर्शों में कभी-कभी काफी मतभेद भी रहा। इस प्रकार हिन्दू धर्म एक विशाल समुद्र है, जिसमें अनेक जलधाराएँ

आकर मिल गयी हैं। यह धर्म किसी खास एक ग्रन्थ को अपना आधार नहीं मानता; यह वेदों, उपनिषदों, श्रुति-स्मृतियों और पुराणों, दर्शन-शास्त्रों और महाकाव्यों में वर्णित है।

वर्णाश्रम व्यवस्था और अहिंसा—हिन्दुओं के समाज-संगठन का आधार वर्णाश्रम धर्म है, जो लोगों को अहिंसा अपनाने की प्रेरणा देता है। सब वर्णों में ऊँचा ब्राह्मण है, जो शरीर-बल का धनी न हो कर आत्म-बल से महान है। क्षत्रिय को भी, जो शासन का अधिकारी माना गया है, ब्राह्मण से नीचा दर्जा दिया गया है। सब वर्णों के लिए ब्राह्मण आदरणीय है। इस प्रकार अहिंसा की उच्चता और श्रेष्ठता घोषित की गयी है। चार वर्णों में केवल एक क्षत्रिय वर्ण को युद्ध में हिंसा की अनुमति दी गयी है, वह भी अन्याय के प्रतिकार के लिए, या व्यक्ति अथवा समाज या देश की रक्षा के लिए। इस प्रकार स्थूल हिंसा का कार्य समाज के एक छोटे से भाग तक ही सीमित कर दिया गया।

फिर मनुष्य-जीवन के चार भाग किये गये। ब्रह्मचारी को हिंसा वर्जित थी; वानप्रस्थ और संन्यासी को भी हिंसा करने का निषेध था। इस प्रकार केवल गृहस्थ आश्रम वालों को ही, आवश्यकता होने पर, हिंसा की अनुमति थी। अस्तु, हिन्दू धर्म ने वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करके समाज के लिए अहिंसा का आदर्श निश्चित और स्पष्ट रूप से उपस्थित किया, इसमें सन्देह नहीं।

धार्मिक साहित्य में अहिंसा—हिन्दू साहित्य में अहिंसा का खूब विवेचन है। उसका उल्लेख यहाँ संक्षेप में भी नहीं किया जा सकता। संकेत-रूप में कहा जा सकता है कि उसकी भावना यही है—

'हम साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ भोजन करें, साथ-साथ तेजवान हों, साथ-साथ शिक्षित हों, कोई किसी से द्वेष न करे।'

'संसार के सभी प्राणी सुखी हों, सब निष्पाप हों, सर्व-श्रेष्ठ तत्त्वों का दर्शन करें, किसी को दुःख का स्पर्श न हो।'

'संसार में जो कुछ है—धन-धान्य, सुख-समृद्धि—वह सब ईश्वर का है, अर्थात् समाज का है—किसी भी एक व्यक्ति या समूह का नहीं। इसलिए उसका उपयोग त्याग-पूर्वक भाव से किया जाय, कोई किसी सम्पत्ति पर आसक्ति न रखे।

हिन्दुओं के प्राचीन नियम-निर्माता मनु ने धर्म के जो दस लक्षण बताये हैं, उनमें कई एक अहिंसा के ही विविध रूप हैं। फिर सामाजिक धर्म में उन्होंने अहिंसा को ही स्पष्ट और प्रमुख स्थान दिया है।

रामायण—भारत के महाकाव्यों की बात लें। रामायण को साधारणतया राम और रावण के युद्ध का वर्णन समझा जाता है। परन्तु जिन पाठकों ने उसे मूल संस्कृत में अथवा उसके हिन्दी या अन्य भाषाओं में अच्छी तरह अवलोकन किया है, वे जानते हैं कि युद्ध की बात गौण है। उसमें युद्ध-कथा के आधार पर शान्ति और अहिंसा की बात भरी हुई है। फिर उसमें जिस युद्ध का वर्णन है, वह अंधाधुंध युद्ध नहीं है। वह स्वार्थ-साधन के लिए नहीं, सत्य और न्याय के लिए लड़ा गया है। और उसमें विजय पाने वाले राम के पास हिंसक साधन, अपने विपक्षी की तुलना में, नहीं के समान थे। एक ओर अनेक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रथ वाला महाबली रावण, और दूसरी ओर तीर-कमान वाला राम, और वह भी पैदल। कहाँ रावण की विशाल सेना और उसके बड़े-बड़े डील-डौल वाले प्राक्रमी सेना-नायक, और कहाँ राम की वानर मंडली! स्पष्ट है कि महाकवि अहिंसा और नैतिक साधनों की सार्थकता की घोषणा कर रहा है, हिंसक साधनों की तुच्छता बता रहा है। इसके अतिरिक्त 'सम्पत्ति सब रघुपति कै आही' कह कर उन्होंने परिग्रह और निजी मालकियत की भावना को ही उड़ा दिया है, जो समाज में हिंसा को बढ़ाती है। इसी प्रकार 'बयरु न करु काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई' की बात पाठकों के सामने रखकर रामायण अहिंसा और समानता की शिक्षा देती है।

महाभारत—महाभारत को बहुत से आदमी एक युद्ध की गाथा समझते हैं। पर विचार करने पर विदित हो जाता है कि यह भी युद्ध और हिंसा की निरर्थकता सिद्ध करने वाला महाकाव्य है। यह बताता है हिंसक युद्ध में जीतने वाला भी अन्ततः हारा हुआ होता है, वह घाटे में ही रहता है। पांडवों ने जीत कर भी आखिर क्या पाया? शोक, दुख और पश्चाताप ही तो! हाँ, उन्हें यश मिला है, पर उसका कारण उनका नैतिकता का प्रेम है। महाभारत वास्तव में अहिंसा का समर्थन करती है; वह सत्य, सेवा, परोपकार आदि अहिंसात्मक गुणों और आदर्शों को प्रतिष्ठा प्रदान करती है, वह अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म अर्थात् मानव कर्तव्य स्वीकार करती है। महाभारत-युद्ध में कृष्ण को, निश्शस्त्र कृष्ण को, अपना सेना-संचालक बनाने वाले पांडवों की ही विजय होती है। क्या इस पर भी किसी विचारवान् पाठक को इस बात में कुछ सन्देह हो सकता है कि महाभारत-रचयिता का अहिंसा की ओर अधिक झुकाव है, और वह इस विषय में बड़ा प्रभावपूर्ण संकेत कर रहा है? महाभारत ने कृष्ण को बहुत उच्च पद दिया है—उस कृष्ण को, जिसने युद्ध रोकने का भरसक प्रयत्न किया, जो शान्ति-दूत रहा, और जिसने युद्ध में भाग लिया तो केवल सारथी होकर, एक परामर्शदाता के रूप में, बिना किसी शस्त्रास्त्र के।

गीता हिंसा की शिक्षा नहीं देती, कायरता हटाती है—हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में गीता का विशेष स्थान है। अनेक हिन्दू इसका नित्य पाठ करते हैं, अपने जीवन-काल के अन्तिम भाग में गीता का पढ़ना-सुनना बहुत पुण्य का कार्य माना जाता है। इस गीता की अहिंसा के विषय में क्या दृष्टि है? यह ठीक है कि बहुत से आदमी इसे हिंसा-साहित्य में गिनते हैं, कितने ही क्रान्तिकारियों या आतंकवादियों ने इससे हिंसा की प्रेरणा लेना स्वीकार किया है। परन्तु वास्तव में यह भ्रमवश है। गीता की भूमिका यह है कि महाभारत में पाण्डव-पक्ष का महारथी, युद्धभूमि में जाने पर देखता है कि

उसके विरोधियों में उसके नजदीकी रिश्तेदार तथा आदरणीय गुरूजन आदि हैं, इस पर उसके मन में मोह हो जाता है, उसमें कायरता आ आती है। कृष्ण उसे निष्काम कर्म या अनासक्ति योग आदि की बात समझाते हैं। इस पर अर्जुन को ज्ञान होता है। उसकी कायरता भाग जाती है और वह युद्ध में भाग लेने को तैयार हो जाता है। इससे कुछ आदमी यह नतीजा निकालते हैं कि गीता युद्ध या हिंसा का उपदेश देती है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। कृष्ण ने अर्जुन की कायरता को धिक्कारा है। और उसे निष्काम भाव से, निर्लिप्त होकर, दृढ़ता पूर्वक अपना सहज स्वाभाविक कार्य करने को, स्वधर्म-पालन को कहा है। वास्तव में यहाँ प्रश्न हिंसा और अहिंसा में से एक को चुनने का नहीं है, यहाँ तो कायरता और हिंसा का द्वन्द है। कृष्ण ने कायरता की अपेक्षा हिंसा को अच्छा समझा है।

सूक्ष्म विचार—विनोबा ने कहा है—'गीता ने यह जो बात हमारे सामने रखी है कि मन में गुस्से से उबल कर उपवास करने वाला भी जैसे हिंसक हो सकता है, वैसे ही चित्त की समता न डिगने देते हुए शान्त वृत्ति से, प्रसंग विशेष पर, अनिवार्य समझ कर, परिस्थिति-वश शारीरिक हिंसा करने वाला ही अहिंसक हो सकता है, यह बहुत विचारणीय है। दुनिया के समस्त धर्म-साहित्य में, मुझे लगता है कि यह गीता की विशेषता है। गीता के इस विवेचन से, अनेकों की गलतफहमी हुई है और अनेकों की दिशाभूल हुई है। गीता ने हिंसक साधनों का आज्ञापत्र दे दिया है, ऐसा उसका निष्कर्ष मानकर कुछ लोग गीता पर मुग्ध हैं और कुछ रुष्ट हैं। गीता को हिंसा का बचाव नहीं करना है। आज के विज्ञान के जगत में हिंसा से कोई भी सवाल हल नहीं हो सकता, बल्कि हिंसा मानव का समूल नाश करेगी, यह निर्विवाद है। लेकिन गीता को एक सूक्ष्म विचार समझाना है। अशान्त वृत्ति से ऊपर-ऊपर से अहिंसक साधन इस्तेमाल करने वाले की बनिस्बत शान्त वृत्ति से स्थूल हिंसा करने वाला अधिक अहिंसक हो सकता है, ऐसा

विरोधाभासात्मक विवेचना करके गीता ने अन्तःशुद्धि का महत्व चित्त पर अंकित कर दिया है।'*

गीता का आदर्श मनुष्य; स्थित-प्रज्ञ—गीता हिंसा का प्रतिपादन नहीं करती, वह उसे प्रोत्साहन देने वाली नहीं है। वह तो जीवन-दर्शन या आत्म-ज्ञान का ग्रन्थ है, निष्काम कर्म और अनासक्ति योग की शिक्षा देती है। उसका आदर्श पुरुष 'स्थित-प्रज्ञ' है, जो हर्ष और शोक में, सुख और दुख में, शुभ और अशुभ में, हानि और लाभ में समान भावना रखता है। वह अहिंसक ही होता है, क्योंकि उसे किसी कर्म के परिणाम की कामना नहीं होती। गांधी जी ने इस प्रसंग में कहा है—'उसका (गीता का) दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध के नियमों की शिक्षा देने के बजाय हमको बतलाता है कि एक पूर्ण मानव की पहचान क्या है। गीता में स्थित-प्रज्ञ मनुष्य के जो गुण बताये हैं, उनमें से एक भी मुझे भौतिक युद्ध से मेल खाता नहीं दिखलायी पड़ता। उसका सारा नक्शा युद्ध-रत दलों के व्यवहार के नियमों से मेल नहीं खाता है।'

गीता का सिद्धान्त और विश्व-शान्ति—यह ठीक है कि गीता का उपदेश सुनने के बाद अर्जुन (अपनी कायरता छोड़कर) युद्ध में भाग लेने के लिये तैयार हो गया, पर ध्यान-पूर्वक विचार करने से मालूम हो जायगा कि गीता के सिद्धान्तों पर अमल किया जाय तो विश्व-शान्ति की स्थापना की सब बाधाएँ दूर हो जाँय। जैसा आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'नवभारत टाइम्स' (१८ अगस्त ५७) में लिखा है, संसार में विश्व-शान्ति का उपाय एक मात्र पंचशील के सिद्धान्तों का अनुसरण है।

'एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने' का सिद्धान्त गीता के इस उपदेश में पूर्णतया आ जाता है कि :—

स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

---

* 'सर्वोदय', जून १९५२

अर्थात् अपना कर्त्तव्य-पालन करते हुए चाहे मृत्यु हो जावे किन्तु दूसरे के कर्त्तव्य में हस्तक्षेप न किया जावे।

पंचशील का एक यह सिद्धान्त है कि 'परस्पर विरोधी विचारधारा वाले राष्ट्र भी एक दूसरे के पास शान्ति से रह सकते हैं।'

गीता का यह सिद्धान्त कि :—

'विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'

पण्डित लोगों को सब को एक दृष्टि से देखना चाहिए। कुत्ते, भंगी तक को वह अपने बराबर समझें, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है; भले ही वह शत्रु हो। उनकी दृष्टि में विद्वान् तथा विनयी ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा भंगी सभी समान हों।

गीता में आत्म-विकास पर सबसे अधिक बल दिया गया है। गीता का उपदेश है कि आत्मा का आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"

जो व्यक्ति अपने अन्तरात्मा की आवाज सुनकर उसके अनुसार आचरण करता है, उसका अपना आत्मा ही उसका सबसे बड़ा मित्र हुआ करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने अन्तरात्मा की आवाज पर ध्यान नहीं देता उसका अन्तरात्मा उसे मार्ग-दर्शन कराना बन्द कर देता है और उस दशा में उसका अत्मा ही उसका शत्रु हो जाता है। जिन व्यक्तियों का आत्मा उनका शत्रु हो जाता है वह अपने राष्ट्र का संचालन दूसरे राष्ट्रों का अहित करने में करते हैं। वह न केवल दूसरे राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता भंग करते हुए उनकी प्रभुसत्ता को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं, वरन् दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने के मनसूबे भी बांधा करते हैं। वह अन्य राष्ट्रों के साथ समता तथा परस्पर हित की नीति को नहीं अपना सकते।

किन्तु गीता का उद्देश्य तो यह है कि :—

"समःशत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।"

शत्रु तथा मित्र में समभाव रखता हुआ झूठी मान-मर्यादा तथा अपमान की बातों में आकर व्यर्थ ही उत्तेजित नहीं हो जाना चाहिए। जो व्यक्ति अपना आचरण इतना उच्च बना लेगा, वह दूसरों की प्रादेशिक अखण्डता तथा प्रभुता का सदा आदर करेगा। वह किसी दूसरे व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण करने का कभी विचार तक न करेगा।

[२] बौद्ध और जैन धर्म

बुद्ध को हिन्दुओं ने भगवान के अन्य अवतारों की भांति एक अवतार स्वीकार किया है और जैन धर्म हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भी आता है, तथापि अहिंसा का विचार करने में हम यहाँ इनकी दृष्टि अलग से सूचित करते हैं।

प्राचीन भारत में बलि-प्रथा—भारत के धर्माचार्यों तथा दार्शनिकों के अहिंसा (हिंसा-निषेध) पर जोर देते रहने पर भी यहां पशु-हत्या चलती रही। प्राचीन काल में आदमी कच्चा मांस खा जाता था। आग जलाना सीखने पर मांस पकाने की रीति चली। पूजा में भी पशु-बलि होने लगी। बात यह है कि आदमी जो कुछ खाता है, वही वह अपने इष्ट देव को भी चढ़ाने का इच्छुक रहता है। पका हुआ मांस अधिक स्वादिष्ट और बढ़िया मालूम होने से देवी-देवताओं के लिए इसका भेंट किया जाना समाज में अधिक अच्छा माना जाने लगा और यह काम खूब समारोह-पूर्वक किया जाने लगा। खेती और पशु-पालन बढ़ने पर समाज में पशु-हिंसा की आवश्यकता कम हुई तो भी मांसाहार कुछ कम-ज्यादा चलता रहा। धनी और प्रतिष्ठित लोगों द्वारा बड़े-बड़े पशु-यज्ञ होने लगे। पशु-यज्ञों से लोगों को समाज में प्रतिष्ठा मिलने और बढ़ने लगी।

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि पशु-यज्ञों का नियम प्रारम्भ में जीव-हत्या को कम करने अर्थात् हिंसा का नियंत्रण करने के लिए ही था। उस समय की दृष्टि से यज्ञों का सूत्रपात अहिंसा की दिशा में

एक अच्छा कदम था। श्री विनोबा ने अपने 'गीता-प्रवचन' में लिखा है—'एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओं पर ही अपना निर्वाह करता था। परन्तु जो उत्तम और बुद्धिवान व्यक्ति थे, उन्हें यह नहीं जँचा। उन्होंने यह प्रतिबन्ध लगाया कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञ में बलि दिये गये पशुओं का ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा रुके। बहुतों ने तो पूर्ण रूप से मांस छोड़ दिया; परन्तु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गयी कि वे उसे यज्ञ में परमेश्वर को अर्पण करें, कुछ तपस्या करें, तब खायें। उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञ में ही मांस खा सकते हैं'—ऐसा प्रतिबन्ध लगा देने से हिंसा रुक जायगी; परन्तु बाद में यज्ञ एक सामान्य क्रम बन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ करता और मांस खाता।'

बुद्ध और महावीर द्वारा पशु-यज्ञ बन्द कराने का प्रयत्न— बुद्ध और महावीर ने। खासकर बुद्ध ने पशु-यज्ञ का जोरदार विरोध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध को मांसाहार का पूर्ण विरोध न था, किन्तु उन्होंने यज्ञ के लिए की जानेवाली हिंसा के विरुद्ध आवाज उठायी और लोगों को उपदेश दिया कि मांसाहार का नियंत्रण करें, कितने ही दिनों के लिए उन्होंने मांसाहार वर्जित कर दिया। बौद्ध धर्म को निरामिष भोजन का आग्रह न रहा, और सामान्य रीति से बौद्ध केवल शाहाकारी न हुए। पर बौद्ध धर्म के प्रचार से पशु-यज्ञ कम हुआ और कितने ही लोगों में बिल्कुल ही न रहा। यद्यपि पीछे जाकर बौद्ध धर्म यहाँ नहीं रहा पर इसके प्रभाव से वैदिक धर्म में पशु-यज्ञ की प्रतिष्ठा न रही। वैदिक धर्म से निकले हुए वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने पशु-यज्ञ के बदले धान्य आदि के अहिंसामय यज्ञों को अपनाया और पशु यज्ञ का तीव्र विरोध किया।*

* देखिए, 'अहिंसा-विवेचन' ले०—श्री किशोरलाल मश्रूवाला,

बौद्ध धर्म और अहिंसा; नैतिक शिक्षा—बौद्ध धर्म ने अहिंसा के निषेधात्मक रूप पर इतना जोर न देकर विधायक पक्ष का प्रचार किया और जनता को नैतिक व्यवहार की शिक्षा दी। इससे इसकी बातों का सर्व-साधारण में खूब स्वागत हुआ। बौद्ध धर्म का सिद्धान्त है कि सबसे प्रेम-भाव से व्यवहार करो, अपने विरोधी के प्रति भी द्वेष न कर प्रेम ही करना चाहिए। जीवों की हत्या तो करनी ही न चाहिए, उनका पालन पोषण करने में करुणा और दया का यथेष्ठ परिचय देना चहिए। बुद्ध की शिक्षा है कि 'मनुष्य क्रोध को प्रेम से जीते, बुराई को अच्छाई से, लोभ को उदारता से, और झूठ को सत्य से।' बौद्ध धर्मानुयायी गृहस्थों के 'पंच शिलाओं' में अहिंसा का प्रथम स्थान है। पंचशील का पालन मनुष्य की उन्नति का साधन माना जाता है। बौद्ध धर्म के पंचशील ये हैं—

(१) जानबूझ कर जीव-हिंसा न करना।
(२) बिना दी हुई वस्तु को न लेना।
(३) काम भोगों में मिथ्या आचार न करना।
(४) असत्य वचन न बोलना।
(५) शराब आदि मादक द्रव्यों का सेवन न करना।

इन्हें हम क्रमशः, अहिंसा, अस्तेय, संयम, सत्य और मद्य-त्याग कह सकते हैं।

बौद्ध धर्म भारत का राजधर्म भी रहा। इसका प्रचार दूर-दूर तक हुआ। असंख्य स्त्री-पुरुषों को इस धर्म से अहिंसा की प्रेरणा मिली। और अब ढाई हजार वर्ष बाद भी यह अनेक हृदयों के लिए बहुत आकर्षक और प्रेरणादायक बना हुआ है, और आगे भी ऐसा बना रहने की आशा है।

अहिंसा की परम्परा में बुद्ध का स्थान—अहिंसा मानव समाज के आदि काल से है। पर समाज को 'अहिंसा परमोधर्मः' का संदेश देने वाले सब से प्रथम महापुरुष बुद्ध ही हैं। 'धर्म' का अर्थ

इस सूत्र में किसी संकुचित सम्प्रदाय, मत, मजहब का नहीं है, वरन् उदार, व्यापक भाव में मानव कर्तव्य ही है। अहिंसा को यह स्थान देने में बुद्ध का स्थान अग्रणीय है। श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने लिखा है—

'राम ने युद्ध को एक ऊँचा आधार (सत्य और न्याय) देकर संस्कृति से जोड़ा, तो कृष्ण ने युद्ध की पशुता के साथ, व्यवहार करने की एक नयी मनोवृत्ति (निष्काम कर्म या फल-त्याग की भावना) देकर संस्कृति में उसका समन्वय किया। पर युद्ध की पशुता ज्यों की त्यों रही। तब जन्मा एक क्रान्तिकारी महापुरुष—बुद्ध। उसने कहा—मनुष्य को यह शोभा नहीं देता कि वह पशुता करे। हिंसा पशुता है और अहिंसा मनुष्यता। मनुष्य की मनुष्यता का तकाजा है कि वह पूरी तरह अहिंसक रहे।

'संसार की मानवता के लिए यह एक नयी वाणी थी। इसका समाज पर गम्भीर प्रभाव पड़ा और इसकी पूर्णता हुई यों कि सम्राट अशोक ने सेनाओं का विघटन करके धर्म-प्रचार को अपना मुख्य कार्य बना लिया।' *

जैन धर्म में हिंसा का पूर्ण निषेध—जैनियों में अहिंसा व्यवस्थित रूप से चली। मांसाहार तो पूर्णतया निषिद्ध है ही, छोटे-छोटे जानवरों की भी हिंसा से बचने का आदेश है, और इस के लिए व्यवहार में अधिक से अधिक सावधानी रखने का आग्रह है। यहाँ तक कि कई प्रकार की वनस्पति, फल या हरे शाक आदि खाने की भी मनाही है। यतियों या साधुओं के लिए तो बड़े ही कठोर नियमों को पालन करने की आज्ञा है। वे छोटे जीवों की हत्या से बचने के लिए अपने मुँह के आगे कपड़ा लगाये रखते हैं, स्नान आदि कम करते हैं, दतवन नहीं करते, नंगे पाँव चलते हैं, खेती और उद्योग आदि को नीचे दर्जे का काम मानते हैं। अस्तु, जैन धर्म ने बहुत से लोगों को मांसा-

* 'नया जीवन', सितम्बर-अक्तूबर १९५६

हार से मुक्त किया और देश भर में अहिंसा के विचार का प्रचार किया, जिसका यहाँ की संस्कृति पर विलक्षण प्रभाव पड़ा।

हाँ, जैन धर्म में अहिंसा के निषेधात्मक रूप पर जितना जोर दिया जाता है, उतना विधायक रूप पर, मनुष्यों के आपसी व्यवहार को अहिंसक बनाने पर—व्यापार और महाजनी आदि में स्वार्थ-भाव को हटाकर लोकहित करने पर—नहीं दिया जाता।

जैन धर्म की बौद्ध धर्म से विशेषता—अहिंसा की दृष्टि से जैन धर्म बौद्ध धर्म से आगे है। विनोबा ने कहा है—'बौद्ध धर्म ने केवल इस बात का प्रचार किया कि अगर हिंसा करते ही हो तो उसे अपने लिए करो, ईश्वर के नाम पर क्यों करते हो! बौद्ध लोग हिंसा के उतने विरोधी नहीं जान पड़ते जितने कि जैन। बौद्ध मांस-भक्षण के भी विरोधी नहीं थे। वे इतना ही मानते थे कि उनके लिए हिंसा न की जाय। जैनों की प्रेरणा से हिन्दू-धर्म ही को इसका श्रेय है कि उसने मांस-भक्षण की इतनी प्रचलित आदत को भी छोड़ दिया। आज संसार में केवल भारत ही ऐसा देश है, जहाँ के तीन करोड़ आदमी मांस नहीं खाते। जैन, वैष्णव, शैव सभी ने इसका परित्याग किया। आज बौद्ध देशों में भी मांस-भक्षण बराबर चालू है। भारत के समान संसार के इतिहास में इतना बड़ा प्रयोग दूसरा नहीं हुआ।'*

(३) सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्म की स्थापना पंद्रहवीं सदी में पंजाब में हुई। इसके संस्थापक गुरु नानक थे। ये हिन्दू धर्म और सनातन धर्म की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करते थे। इनका सिद्धान्त कबीर से मिलता था। ये जाति-पांति नहीं मानते थे। इन्होंने भारत के अतिरिक्त बगदाद, मक्का आदि मुसलिम केन्द्रों की भी यात्रा की। इनके साधु-जीवन और सरल-सुबोध उपदेशों से जनता बहुत प्रभावित हुई। अनेक हिन्दू और मुसल-

---

*विनोबा सम्वाद

मान इनके अनुयायी बने और सिक्ख [शिष्य] कहलाये। सिक्ख धर्म के मुख्य सिद्धान्त ये हैं—सब का पिता परमात्मा एक है, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं मानना चाहिए। सबको प्रेम से रहना चाहिए। हमारा उद्देश्य हृदय की शुद्धि होना चाहिए। सब धर्मों के संत महात्माओं का आदर-सम्मान करना चाहिए। सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहब' कहलाता है। अहिंसा का एक आवश्यक अंग अपनी जरूरत कम करना और सादगी का जीवन व्यतीत करना है। सिक्ख गुरुओं को जब ऐशोआराम के सब साधन सुलभ थे, तब भी उन्होंने अपना रहन-सहन बहुत ही सादा बनाये रखा था। यह बात बहुत अनुकरणीय है। जीव-दया के सम्बन्ध में गुरु नानक के कुछ वाक्य ये हैं—'जो कोई मांस-मछली खाता है और मादक पदार्थों का सेवन करता है, उसके तमाम पुण्य नष्ट हो जाते हैं।'

मांस-मांस सब एक हैं, मुरगी, हिरन, गाय।
आँख देख नर खात हैं, ते नर नर्क हि जायँ॥
जो सिर काटे और का अपना रहे कटाय।
धीरे-धीरे नानका बदला कही न जाय॥
जो बीजे सो ऊगसी कभू न होवे हानि।
समय पाय फल देत है नानक निश्चय जानि॥

विशेष वक्तव्य—भारतीय धर्मों में से मुख्य धर्मों के विषय में ऊपर लिखा गया है। यहाँ के अन्य धर्म प्रायः इन्हीं में से किसी के अन्तर्गत हैं। स्पष्ट है कि सब धर्मों ने जीवों की तथा मनुष्यों की हत्या का निषेध किया है और किसी न किसी रूप में अहिंसा की शिक्षा दी है। हाँ, अब आदमी अपने व्यवहार में इस शिक्षा के अनुसार बहुत कम चलते हैं।

सातवाँ अध्याय

अन्य धर्मों में अहिंसा

मैं तो कहता हूँ कि मुसलमान धर्म का सार भी अहिंसा है और ईसाई धर्म भी अहिंसा सिखाता है।

—गांधी जी

चाहे भारत हो, अथवा बाहर का कोई विदेश, मानव स्वभाव सर्वत्र एक ही सा है। यह बात दूसरी है कि बाहरी प्रभावों और दूषित शिक्षा के कारण वह विकृत हो जाय और मानव बहक जाये। परन्तु एक न एक दिन उनके सत्य के दर्शन होते हैं—उनमें ही अहिंसा का उपदेश देने वाला सच्चा मानव जन्मता है और उन्हें सत्य मार्ग दिखा जाता है।

—कामताप्रसाद जैन

पिछले अध्याय में अन्हिसा की दृष्टि से भारतीय धर्मों का विचार कर चुकने पर अब अन्य धर्मों की बात लें।

कनफ्यूसियस और लाओत्से का धर्म

बौद्ध धर्म भारत से बाहर जिन देशों में फैला उनमें चीन मुख्य है। बुद्ध से पहले वहाँ कनफ्यूसियस और लाओत्से को विशेष मान्यता थी। इन तीनों महात्माओं की शिक्षाएँ चीनियों के लिए 'उपदेश-त्रयी' हैं।

कनफ्यूसियस का जन्म ई० पू० ५५१ में हुआ। इन्होंने देवी-देवताओं और पितरों आदि को विशेष महत्व नहीं दिया। ये इस दुनिया की चीजों और मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाली बातों का ही विचार करते थे और उन्हीं के सम्बन्ध में उपदेश देते थे। इन्होंने पारिवारिक जीवन को नियमित करने का विशेष प्रयत्न किया और

राजा-प्रजा के बीच पिता-पुत्र के भाव को मजबूत किया। इनकी खास शिक्षा यह थी कि समाज को सँभाले रखना ही ईश्वर की आज्ञा को मानना है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी को नेक बनाये और विश्व के सब प्राणियों के साथ अपने जीवन को एक करे। इनके धर्म को सदाचार की शिक्षा कहा जाता है। इन्हें लोगों के व्यक्तिगत सम्बन्ध में हिंसा मान्य न थी। ये उनमें पारस्परिक प्रेम और सद्व्यवहार बढ़ाने पर जोर देते थे।

लाओत्से कनफ्यूसियस का समकालीन ही था। इनका जन्म ईसा से ६०४ वर्ष पहले हुआ था। लाओत्से की मान्यता है कि हिंसा-पथ प्रकृति के विरुद्ध है, सृष्टि-नियम के विरुद्ध है। ये अराजकतावादी और युद्ध-विरोधी थे। इनकी शिक्षा में अहिंसा के विधायक रूप की —बुराई को प्रेम से जीतने की—प्रधानता है। इनके मतानुसार आदमी को चाहिए कि अपने व्यवहार में सादगी रखे, उसकी जरूरतें कम हों, शान्ति-पूर्वक रहे, वह अहंकार या घमंड न करे, अपने-पराये या मेरे-तेरे का भेद-भाव न रखे।

लाओत्से चाहता था और प्रचार करता था कि समाज की बाग-डोर, देश की हकूमत सोच समझ कर चलने वाले नेकदिल सन्तों के हाथ में हो, सत्ता एक आदमी के हाथ में न आये, जनता को ज्यादा से ज्यादा आजादी हो प्रत्येक गाँव अपने प्रबन्ध में स्वावलम्बी हो, सब गाँव मिल कर रहें, आपस में प्रेम और सहयोग रखें। कानूनी या दूसरी जबरदस्ती न हो। फौज की जरूरत न रहे। इस प्रकार लाओत्से अपने समय में चीन का गांधी था। उनके सिद्धान्तों से चीन में अहिंसा का विकास होने में बहुत सहायता मिली है।

यहूदी धर्म

पश्चिमी एशिया का सब से पहला प्रमुख धर्म यहूदी धर्म है। इसका प्रादुर्भाव फिलिस्तीन (पैलस्टाइन) में ईसा से लगभग दो हजार

वर्ष पहले हुआ। यह माना जाता है कि ईश्वर ने हजरत मूसा को दस आज्ञाएँ दी थीं, इनमें से पहली यह है—किसी की जान न लेना। मूसा ने इन आज्ञाओं की व्याख्या की और आचार-व्यवहार के नैतिक नियम बनाये। इनका संग्रह ही यहूदियों का धर्म-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ बाइबल का पहला भाग है, जिसे 'ओल्ड टेस्टामेंट' या पुराना अहद-नामा कहते हैं। ईसाइयों के मतानुसार इसका संशोधन ईसामसीह द्वारा हो गया है। वे बाइबल के दूसरे हिस्से को मान्यता देते हैं, जिसे 'न्यू टेस्टामेंट' कहते हैं। अस्तु, अपने समय की दृष्टि से यहूदी धर्म भी अहिंसा में प्रगति करने वाला है; उसकी कितनी ही शिक्षाएँ अहिंसा-प्रेमियों के लिए बहुमूल्य विरासत हैं। उदाहरणार्थ वह कहता है—

'यदि तेरा दुश्मन भूखा है तो उसे खाने को रोटी दे और अगर वह प्यासा है तो उसे पीने को पानी।'

'यदि तेरा दुश्मन असफल हो, यदि उसे ठोकर लगे तो प्रसन्न न हो।'

'घृणा झगड़ों को प्रोत्साहित करती है, लेकिन प्रेम सब पापों को ढक लेता है।'

यहूदी धर्म की शिक्षा में 'आँख के बदले आँख, और दाँत के बदले दाँत' कहा गया है। आधुनिक विचारक को यह हिंसात्मक प्रतीत होना स्वाभाविक है, हजरत ईसा ने अपने समय में ही इसका परिमार्जन कर डाला था। हमें ध्यान रखना चाहिए कि यह बात उस समय की दृष्टि से अहिंसा की प्रगति की ही सूचक थी, कारण, उस समय उस क्षेत्र में अपराधी को जान से मार डालना उचित या क्षम्य समझा जाता था। उपर्युक्त नियम निर्धारित करके स्पष्टतया हिंसात्मक प्रवृत्ति को नियंत्रित किया गया था, उस पर रोक लगायी गयी थी। इस प्रकार यहूदी धर्म ने भी अन्य धर्मों की भाँति जनता को अहिंसा की दिशा में बढ़ने में सहायता प्रदान की।

पारसी धर्म

पारसी धर्म का संस्थापक ज़रदुश्त है। ये ईसा के लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व ईरान में हुए। इस धर्म का मुख्य ग्रन्थ 'अवस्था' है, और प्रधान इष्टदेव अहुर-मज्द हैं। पारसी खासकर अग्नि की पूजा करते हैं। जरदुश्त ने लोगों को अहिंसा का महत्व समझाया और पशु-बलि की क्रूर प्रथा का अन्त किया। इनकी शिक्षा संक्षेप में इस प्रकार है—

'कोई भी प्राणी इस धरातल पर पवित्रता का अधिकारी हो सकता है, शर्त यही है कि वह अच्छे विचारों, अच्छे वचनों और अच्छे कार्यों द्वारा अपने हृदय को पवित्र करले।' 'वह प्रत्येक प्राणी का मित्र बने, क्योंकि यह (मैत्री) उसका स्वभाव है। वह उन्हें सन्मार्ग पर लाये, यह उसकी बुद्धिमता है। फिर वह उन सब प्राणियों को अपना माने, यह उसका धर्म है, और उनके निमित्त से सुख का सृजन होगा, यही उसकी आत्मा है।'

ईरानियों के प्राचीन शासक पारसी होने के कारण अहिंसा, मैत्री और दया का प्रचार करते थे। उनमें दारा प्रसिद्ध है। उसके एक शासन-लेख में कहा गया था—'यह मेरी इच्छा नहीं है कि मानव हिंसा करे, दूसरे को कष्ट पहुँचावे। और मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि जो दूसरे को पीड़ा पहुँचाये, उसे दंडित न किया जाय।' पारसियों में कितने ही कलंदर, दरवेश और सूफी कवि हुए जिन्हों ने अध्यात्मवादी अहिंसा-संस्कृति का प्रचार करने और बढ़ाने को महत्वपूर्ण योग दिया।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म अपने वास्तविक या सिद्धान्तिक रूप में प्रेम और अहिंसा की अनुपम शिक्षा देने वाला है। इसका प्रवर्तक ईसा मसीह अपने क्षेत्र में दूसरा बुद्ध ही था। बुद्ध और ईसा की शिक्षा में विलक्षण साम्य है। ईसाई धर्म-ग्रन्थ बाइबल पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध-वाणी का ही कुछ रूपान्तर सामने है, जो भेद है वह देश-काल

का है। ईसा ने अपने पूर्ववर्ती धर्माचार्य की शिक्षा को बहुत ही विकसित स्वरूप प्रदान किया है, और इससे वह अपने समय के महान क्रान्तिकारी सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए उनके कुछ वाक्य देखिए—

'तुमने सुना है कि यह कहा गया है कि 'अपने पड़ोसी से प्रेम करो और अपने शत्रु से घृणा', लेकिन मैं तुम से कहता हूँ कि अपने शत्रुओं से प्रेम करो; जो तुम्हें श्राप दें उनको आशीर्वाद दो; जो तुम से घृणा करें उनके साथ भलाई करो, और जो तुम पर अत्याचार करें और तुम्हारा दुर्भावना पूर्वक दुरुपयोग करें उनके लिए प्रार्थना करो, जिससे तुम स्वर्ग में अपने पिता के (योग्य) पुत्र बन सको, क्योंकि वह अपना सूर्य अच्छाई और बुराई दोनों पर प्रकाशित करता है और न्यायी और अन्यायी दोनों के लिए वर्षा करवाता है।'

अपने गिरि-प्रवचन (पहाड़ी पर दिये हुए उपदेश) में ईसा कहता है—

'तुमने सुना है, यह कहा गया है कि 'आंख का बदला आंख और दांत का बदला दांत' लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराई का (हिंसा से) प्रतिरोध ही न करो, बल्कि जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसको और बांया गाल भी कर दो।'

'और अगर कोई तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलाकर तुम्हारा कोट भी छीन ले तो उसको अपना लबादा भी दे दो।'

'और जो कोई तुमको एक मील चलने को मजबूर करे, उसके साथ दो मील चले जाओ।'

ईसा का सारा जीवन उत्कृष्ट प्रेम और सेवा-कार्यों से ओतप्रोत है। कहते हैं कि जब उनके प्रति दुर्वचनों का प्रयोग हुआ तो उन्होंने लौट कर दुर्वचन नहीं कहे, और जब उन्हें कष्ट सहन करना पड़ा, किसी को धमकाया नहीं। उनकी गिरफ्तारी के समय जब उनकी रक्षा के लिए उनके शिष्य पीटर ने अपनी तलवार निकाल कर बड़े पुजारी के नौकर का दाहिना कान काट दिया तो उसे डांटते हुए ईसा ने कहा 'अपनी

तलवार वापिस म्यान में रखो, क्योंकि वे सब जो तलवार उठाते हैं, तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं।'

अहिंसा और प्रेम की कड़ी से कड़ी परीक्षा में ईसा के उत्तीर्ण होने का प्रमाण हमें उस समय मिलता है, जब ईसा सूली पर चढ़ा हुआ होने पर भी अपने सताने वालों के लिए प्रार्थना करता है, कहता है 'पिता इन्हें क्षमा कर, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'

ईसा को सूली पर चढ़ाया गया। पर वह उनका नश्वर शरीर था, जो आगे पीछे समाप्त होता ही। ईसा का वास्तविक रूप तो उनकी आत्मा थी, उसे कौन मार सकता है। ईसा अहिंसा का अवतार था, उसके इस रूप को सदा ही अमर रहना है। हम देखते हैं कि अब उनकी बीसवीं सदी में भी वे अनेक मानव हृदयों के लिए अद्भुत् प्रेरणा के श्रोत बने हुए हैं। हमारे जमाने में गांधी जी ने ईसा को सत्याग्रहियों का सिरताज माना है। उन्होंने अपने एक मित्र श्री जे० जे० डोंक से कहा था कि 'न्यू टेस्टेमेंट' और खासकर ईसा के पहाड़ी पर दिये हुए उपदेश से ही सत्याग्रह की बहुमूल्य नैतिकता की ओर मेरा हृदय आकर्षित हुआ।

ईसाई सज्जन जगह-जगह सफाई, शिक्षा और चिकित्सा द्वारा लोक-सेवा करने में लगे हैं। बच्चों और स्त्रियों के लिए उनके अनेक अस्पताल हैं। कोढ़ियों की सेवा सुश्रुषा ईसा की सच्ची यादगार है। हाँ स्वार्थ, पूँजीवाद, उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद के चक्कर में पड़े हुए ईसाई तो उसे भूले हुए ही हैं।

इस्लाम धर्म

दुर्भाग्य से भारत में अधिकतर लोगों की यह धारणा हो गयी है कि इस्लाम धर्म हिंसा और जोर-जबरदस्ती का है। बात यह है कि बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें इस्लाम धर्म की शिक्षा और उपदेशों का प्रत्यक्ष या स्वयं-प्राप्त ज्ञान है। हम इस्लाम धर्म का मूल्यांकन मुसल-

मानों का व्यवहार देख कर करते हैं, और पिछली शताब्दियों में यहाँ वालों को कुछ कटु अनुभव हुए हैं, अथवा अधिकतर अंग्रेज और उनकी देखा-देखी अन्य कितने ही इतिहास रचयिताओं ने उनके दोषों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है, अच्छी मिसालों पर कम प्रकाश डाला है, और बुरे उदाहरणों को बहुत अधिक प्रस्तुत किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ इस्लाम धर्म अहिंसा आदि मानवोचित गुणों से हीन माना जाता है। परन्तु विचार करने की बात है कि अगर इस्लाम धर्म वास्तव में ऐसा होता तो उसका भारत में और संसार में इतना प्रचार ही कैसे हो पाता। तलवार आदि हिंसात्मक साधनों से क्षणिक सफलता चाहे जितनी मिले, उसकी विजय चिर काल तक नहीं बनी रह सकती।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब थे। इनकी शिक्षा शान्ति, प्रेम और भाईचारे की थी। अपने निजी व्यवहार में ये बहुत रहमदिल या दयालु रहे। इनके पहले अरब में स्त्रियों और गुलामों पर बहुत सख्ती या जुल्म होता था। इन्होंने अपने अनुयाइयों को आदेश किया कि वे उनके प्रति सद्व्यवहार करें। इन्होंने लोगों को अपने से छोटों के प्रति कृपालु और क्षमाशील रहने को कहा। यही नहीं, इन्होंने जानवरों से भी हमदर्दी करने का उपदेश किया। मनोरंजन या शौक के वास्ते शिकार आदि के रूप में होने वाली जीव-हिंसा को इन्होंने निषिद्ध ठहराया। युद्ध के विषय में बात यह है कि इन्होंने केवल आत्मरक्षा या बचाव के लिए किये जाने वाले युद्धों का ही समर्थन किया। हर हालत में ये हिंसा की अपेक्षा अहिंसा को अच्छा समझते थे।

मुहम्मद साहब अन्य धर्म वालों से द्वेष या शत्रुता नहीं करते थे और उन्हें किसी का बल-पूर्वक धर्म परिवर्तन किया जाना भी पसन्द न था। ये तो धार्मिक स्वतंत्रता के समर्थक और प्रचारक थे। ये चाहते थे कि जहाँ कहीं ये या इनके अनुयायी जायँ, कोई इनके प्रचार

में बाधक न हो। जहाँ इन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक अपने धर्म का प्रचार नहीं करने दिया गया, इनके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की गयीं, या इनके अनुयाइयों पर कुछ अत्याचार हुआ, वहाँ इन्होंने डट कर मुकाबला किया और आवश्यकता होने पर तलवार का भी उपयोग किया। अन्यथा, ये दूसरे धर्म वालों से कोई वैर-विरोध न करते थे। इनके राज्य में प्रत्येक धर्म का अनुयायी मजे में रह सकता था, ये किसी के धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप न करते थे।

इस्लाम धर्म के अनुसार ईश्वर एक है। उसकी संतान में कोई भेद-भाव नहीं। सब की एक बिरादरी है। सब को भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। इस्लाम का अर्थ ही शान्ति है। मुसलमानों का अभिवादन शब्द 'अस्सलामालेकुम' का अर्थ है, 'आप शान्ति से रहें।' इस्लाम धर्म की शिक्षा सरल, सुबोध, व्यावहारिक और सहयोग-कारी होने के कारण इसका जन-साधारण में खूब प्रचार हुआ। मोहम्मद साहब ने अपना शान्ति और अहिंसा का संदेश कुस्तुन-तुनिया, ईरान और चीन के सम्राटों के पास भी भेजा। पीछे इस धर्म का प्रचार यूरोप, अफ्रीका और एशिया के दूर-दूर के प्रदेशों तक में हुआ। हाँ, इसके कुछ अनुयाइयों ने अनेक स्थानों में जोर-जबर-दस्ती का परिचय देकर इसे बदनाम किया। अस्तु, इस्लाम वास्तव में शान्ति और अहिंसा का वाहक है।

सब धर्मों में जीव-दया की शिक्षा—इसी प्रकार अन्य धर्मों के विषय में विचार किया जा सकता है। उनमें अन्य बातों में चाहे जितना अन्तर हो, एक बात सब में समान रूप से पायी जाती है। प्रत्येक धर्म अपने अनुयाइयों को मानवता का जीवन बिताने की, सब जीवों पर दया करने की शिक्षा देता है। यहाँ उदाहरण-स्वरूप उनके कुछ आदेश दिये जाते हैं।*

* श्री कामताप्रसाद जैन के लेख से

पारसी धर्म—

'इन दुष्ट नर और नारियों की आत्माओं ने जिन्होंने जल में जलचरों को मारा और अहुर-मजदा (ईश्वर) के अन्य प्राणियों की मार-काट किया है, गन्दगी ही खायी। जो दुष्ट मनुष्य पशुओं, भेड़ों और अन्य चौपायों की अनीति-पूर्वक हत्या करता है उसके अंगोपांग तोड़कर छिन्न-भिन्न किये जायेंगे।'

—आर्द विरफ

ईसाई धर्म—

"तुझे हत्या नहीं करनी चाहिए।" —दश आज्ञाएँ

'निःसंदेह वह पुण्यात्मा है जो पृथ्वी से उपजे हुए फलों को खाता है।'

—सेंटल्यूक

'देखो! मैंने तुमको हर एक बीज उपजाऊ वनस्पति दी है, जो पृथ्वी पर पैदा होती है और हर एक वृक्ष भी दिया है जिसमें वृक्ष उपजाऊ बीज के फल लगे हैं। ये सब तुम्हारे लिए भोजन-सामग्री है।'

—जेनिसिस

'ईश्वर चाहता है कि हमें अपने दीन भाइयों, पशुओं की हत्या नहीं करनी चाहिए बल्कि उनकी सहायता करनी चाहिए जब भी इनको इसकी जरूरत पड़े।'

—सन्त फ्रांसिस

इस्लाम धर्म—

'जो कोई अन्य प्राणियों के साथ दया का व्यवहार करता है, अल्लाह उस पर दया करता है। मूक पशुओं की खातिर अल्लाह से डरो। निःसंदेह जो उन मूक पशुओं के प्रति नेकी का व्यवाहार करता है और उन्हें पीने के लिए पानी देता है वह अवश्य ही अल्लाह की तरफ से नाम पावेगा।'

'इस भूमण्डल पर कोई भी पशु और पक्षी ऐसा नहीं है जो कि तुम्हारे समान ही अपने प्राणों से प्यार न करता हो। 'जंगली जानवरों को पीड़ा न देनी चाहिये।' 'जो दूसरे के प्राणों की रक्षा करता है वह गोया तमाम मनुष्य-समाज के प्राणों की रक्षा करता है।'

—कुरान

विशेष वक्तव्य—इसी प्रकार अन्य धर्मों की बात है। प्रायः प्रत्येक धर्म ने अपने-अपने देश-काल के अनुसार, अहिंसा के प्रचार तथा विकास में अपने-अपने ढंग से सहायता दी है, और जितना जिस धर्म ने मनुष्यों की अहिंसा-प्रवृत्ति को बढ़ाने में योग दिया है, उतना ही वह अधिक स्थायी हुआ है, और दूर-दूर की जनता को आकर्षित कर सका है। हिंसा की भावना को उत्तेजित करने वाला धर्म किसी खास परिस्थिति में चाहे जैसा प्रबल या प्रभावशाली प्रतीत हो, वह वास्तव में मानव हृदय को स्पर्श नहीं करता, वह जल्दी ही अपनी चमक-दमक दिखा कर अस्त हो जाता है।

आठवाँ अध्याय

अहिंसा के अग्रदूत

हिंसा का अर्थ है, अन्त में मानवता का समूल नाश; और यही कारण है कि मानवता की आत्मा इसे सब रक्षा-योग्य वस्तुओं को नष्ट करने वाली समझती है। बुद्ध, ईसा, टाल्स्टाय और गांधी इसी आत्मा की पुकार हैं।

—बर्नार्डशा

पहले बताया जा चुका है कि अहिंसा का अर्थ केवल जीव-हिंसा का निषेध ही नहीं है, इसमें बहुत व्यापक तथा विधायक भाव है। यद्यपि संसार में इस समय भी हिंसा बहुत विद्यमान है, इसमें संदेह नहीं कि समय-समय पर अनेक महानुभावों ने अहिंसा का ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया है, अपनी जान जोखम में डालकर ही नहीं, अपने प्राणों को न्योछावर करके भी अपनी अहिंसा की उत्कट भावना का परिचय दिया है। उन सब का उल्लेख करने की हमारी क्षमता नहीं, और यहाँ आवश्यकता भी नहीं। हम यहाँ केवल उदाहरण-रूप ऐसे कुछ सज्जनों के विषय में संक्षेप में ही चर्चा करेंगे जिन्होंने अपने-अपने ढंग से हिंसा के विविध क्षेत्रों में विलक्षण योग दिया है, जिन्होंने अन्याय और अत्याचार का विरोध, सामर्थ्य होते हुए भी, हिंसा से नहीं किया। विविध धर्म-प्रवर्तकों के विषय में पहले कहा जा चुका है उन्हें छोड़ कर यहाँ अहिंसा के कुछ अन्य संदेश-वाहकों की ही बात लेते हैं।

सत्याग्रही प्रह्लाद—ऐसे महापुरुषों की विशाल सूची में, हम पहले भक्त प्रह्लाद का पुण्य-स्मरण करते हैं। यह वीर बालक विष्णु को अपना इष्टदेव मानता था। इसके पिता हिरण्यकश्यप का

इससे विरोध था, वह इसके विचार बदल डालना चाहता था, इसके लिए उसने स्वयं तथा अपने कर्मचारियों द्वारा उस पर बहुत दबाव डाला, और इस प्रकार सफल-मनोरथ न होने पर उसने प्रह्लाद को तरह-तरह के कष्ट पहुँचाये। पौराणिक कथा को अक्षरशः न माना जाय तो भी यह स्पष्ट है कि उसने अपने बल-प्रयोग में कुछ कमी न की। पर प्रह्लाद अपनी बात पर डटा रहा, किसी भय या कष्ट से उसने हार मानना अस्वीकार किया। उसका दृढ़ निश्चय रहा कि मर जाऊँगा, पर झुकूँगा नहीं। उसने अपने विरोधियों को न तो कोई अपशब्द कहा और न कोई हिंसक प्रतिकार ही किया। उसने अपने मन में उनके प्रति किसी तरह की दुर्भावना को स्थान न दिया। यहाँ तक कि कहा जाता है कि उसकी भक्ति या दृढ़निष्ठा से प्रसन्न होकर भगवान ने नरसिंह रूप धारण कर उसके पिता को मार डाला तो पुत्र ने भगवान से उसे जीवित करा लिया। प्रह्लाद की यह कथा सर्व-साधारण को अहिंसा की महान प्रेरणा देने वाली है।

हिंसा-बल को नीचा दिखाने वाले वशिष्ट जी—अब हमें गुरुवर वशिष्ट की याद आती है। राजा दशरथ के समय में ये महर्षि रघुवंश के कुल-गुरू थे। विश्वामित्र ने इनकी गाय को हथियाना चाहा। इसलिए उसने तरह-तरह के बल-प्रयोग किये। पर वशिष्ट जी सब कुछ धैर्य और शान्ति से सहन करते रहे। विश्वामित्र के ब्रह्मास्त्र चलानें पर वशिष्ठ उत्तेजित अवश्य हो गये थे, पर देवों की प्रार्थना पर उन्होंने अपना क्रोध शान्त कर लिया। अन्त में विश्वामित्र को यह स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा के बल को धिक्कार है, तपस्या और विद्या से अर्जित सात्त्विक अहिंसक बल ही वास्तविक बल है—

'धिग्बल क्षत्रिय बलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्'

युद्ध में हिंसक साधनों की चिन्ता करने वाले राम—अब हमारे सामने आता है, राम-रावण का सम्बन्ध। राम युद्ध में भाग

लेता है तो इसलिए कि उसका पक्ष सत्य है—केवल राम की दृष्टि से ही नहीं (अपने पक्ष को सभी सत्य माना करते हैं); वरन् सभी निस्पक्ष विचारकों, यहाँ तक कि रावण के परिवार वालों और उसके मन्त्री आदि की दृष्टि से भी। रावण का भाई विभीषण तो रावण के आचार-विचार को असत्य मानने के कारण पहले ही उसे छोड़ आया था, वह राम की तरफ हो गया। रावण की स्त्री मंदोदरी, उसके पुत्र प्रहस्त, महामंत्री माल्यवंत, रावण के मित्र कालनेमी सभी ने सीताहरण को अनुचित मानकर रावण को स्पष्ट सूचना दी थी, और उससे सीता को वापिस लौटाने और युद्ध न होने देने की प्रार्थना की थी। पर जब इतने पर भी रावण ने अपना हठ न छोड़ा और राम को उससे युद्ध करना ही पड़ा तो राम ने यह तो निश्चय कर ही लिया कि मैं हिंसक साधनों की चिन्ता में नहीं पड़ूँगा। वे रणक्षेत्र में बिना रथ के, नंगे पैर ही उपस्थित हुए, जब कि रावण बड़े विशाल रथ में तथा खूब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित था। यह देखकर चिन्तामग्न विभीषण राम से पूछता है—

नाथ न रथ नहीं तन पदत्राना।
केहि विधि जितब वीर बलवाना॥

इस पर राम कहते हैं कि अरे, घबराने की क्या बात है, हमारा रथ, सारथी, घोड़े, पताका आदि दूसरे ही प्रकार के हैं, वे हिंसा-सूचक न होकर मानवी गुणों के रूप में होंगे। तुलसीदास के शब्दों में राम का उत्तर है :—

"सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक मय पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन को दंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिली मुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

जिसके पास ऐसा रथ हो वह रावण की तो बात ही क्या, संसार रूपी दुश्मन को भी—जीवन व मृत्यु को भी जीत सकता है—

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥

ये राम जिस राज्य के प्रवर्तक हुए उसकी मुख्य बात यह है कि उसमें आपसी शत्रुता या वैर का सर्वथा अभाव है 'बयरू न करू काहु सन कोई'—इस प्रकार की भावना निश्चित रूप से अहिंसा के क्षेत्र के विस्तार की सूचना है।

हिंसा और अहिंसा से परे, कृष्ण—कृष्ण के विषय में बहुत से आदमियों को बड़ी गलतफहमी है। वे उन्हें महाभारत का युद्ध कराने वाला और इस प्रकार बहुत बड़ी हिंसा का भागीदार मानते हैं। परन्तु यह धारणा कैसे ठीक कही जा सकती है? जैसा पहले कहा जा चुका है, हमें याद रखना चाहिए कि युद्ध टालने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया, उन्होंने शान्ति-दूत का कार्य दिलोजान से किया—उसमें सफलता न मिली तो इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। पीछे जब उन्हें युद्ध में भाग लेना ही पड़ा तो उन्होंने सेनानायक तो क्या साधारण सैनिक का भी काम न किया; उन्होंने सारथी का पद स्वीकार किया और अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की। युद्ध के प्रसंग में उन्होंने अर्जुन के निमित्त संसार को जो उपदेश दिया और जो गीता के रूप में उपलब्ध है, उस पर विचार पहले किया जा चुका है। इन सब बातों को ध्यान में रख कर कौन विवेकशील व्यक्ति उन्हें हिंसा का समर्थक कहने का साहस करेगा? स्वयं निष्काम कर्म करने वाले, और दूसरों को भी निष्काम करने का उपदेश देने वाला तो हिंसा-अहिंसा से परे ही होता है।

अहिंसक साम्राज्य के स्थापक, अशोक—सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके अहिंसा का जो आदर्श स्थापित किया, वह

भारत के ही नहीं, संसार के इतिहास में अपना विशेष महत्व रखता है। कलिंग-विजय के बाद उसने शिकार करना और मांस खाना छोड़ दिया था और संसार के सामने सार्वभौम शान्ति और भाईचारे का आदर्श रखा। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एच० जी० वेल्स ने कहा है, 'वे ही एक मात्र योद्धा शासक हैं, जिन्होंने विजय के बाद युद्ध को त्याग दिया।' अपने एक शिला-लेख में अशोक कहता है—'हमारे पुत्र-पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उन्हें कभी देश-विजय की प्रवृत्ति हो तो शान्ति और नम्रता का आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल दोनों में सुख होगा।'

एक अन्य शिलालेख कहता है—'प्रियदर्शी राजा (अशोक) की आज्ञा है कि पशु-वध बन्द कर दिया जाय। हिंसा महा दुष्कर्म है। अतः पूजा या समाज के लिए भी पशु-वध न हो। पाकशाला और यज्ञशालाओं में—आहार और पुण्य-प्राप्ति के लिए—लाखों प्राणियों का संहार हुआ है। यद्यपि पुण्य के लिए पशु-वध होना चाहिए या नहीं, इसका अभी ठीक निर्णय नहीं हुआ, तथापि मेरी आज्ञा है कि अब जीव-हिंसा न हो।'

प्रेम-प्रचारक चैतन्य महाप्रभू—'हरि बोल-हरि बोल' की धुन में मस्त करके सबका वैर-भाव मिटाने वाले कृष्ण चैतन्य की याद आज लगभग पांच सौ वर्ष बाद भी न केवल बंगाल और बिहार में, वरन् ब्रज भूमि में भी बनी हुई है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने विरोधियों और शत्रुओं से भी प्रेम का व्यवहार करके उनके हृदय पर विजय पायी और उन्हें अपना बना लिया था। उन्होंने सबको जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, प्रान्त-भेद भूलने की विलक्षण प्रेरणा दी। उनके हरि कीर्तन ने लोगों को अपनी क्षुद्र भावनाएँ छोड़ने के लिए विवश किया। उनका प्रेम-संदेश जिस किसी ने सुना वही मंत्र-मुग्ध हो गया। उन्होंने बंधुत्व, भाईचारे

और समानता का प्रचार उपदेशों से नहीं, अपने आचरण से किया। हृदय-परिवर्तन का उन्होंने अनुपम उदाहरण उपस्थित किया। उनकी शिक्षा थी।

हरि को भजे सो हर का होई।
जात पांत पूछे नहिं कोई ॥

ईसाई अराजवादी टालस्टाय—रूस में अहिंसा की दृष्टि वाले महापुरुषों में टालस्टाय अग्रणी रहे हैं। इनके तत्व-दर्शन को 'ईसाई अराजवाद' कहा जाता है। इनका जन्म एक पुराने रईसी खानदान में हुआ था, और इन्होंने अपनी जवानी खूब ऐशोआराम, स्वच्छन्दता और विलासिता में बितायी थी। ये फौज में भर्ती हुए थे, और इन्होंने क्रिमिया के युद्ध में भाग भी लिया था। पीछे जाकर इनके जीवन में मोड़ आया। इन्हें हजरत ईसा के 'पहाड़ी के प्रवचन' से प्रेरणा मिली थी। इन्होंने ईसा के वचनों के अनुसार अपना जीवन बनाने का भरसक प्रयत्न किया। टालस्टाय ने प्रचलित ईसाई धर्म, भौतिक सभ्यता, वर्तमान शासनपद्धति और मौज-शौक की जिन्दगी की डट कर आलोचना की है। सर्वत्र हिंसा का साम्राज्य देख कर ये बहुत दुखी हुए, और मुक्त कंठ से अपनी वेदना प्रकट करते रहे। इनका मत है कि ईसाई राज्य शब्द ऐसा ही बेतुका है जैसे 'गर्म बर्फ'। जो राज्य हिंसा करे, वह ईसाई कैसा! इसी प्रकार वह सभ्यता या वह धर्म ईसाई नहीं कहा जाना चाहिए जो हिंसा की अनुमति देता हो। टालस्टाय ने पूँजीवाद उपनिवेशवाद, सैन्यवाद या साम्राज्यवाद की खुलकर निन्दा की, और अन्यान्य शक्तियों में अंग्रेजों को अत्याचारों और शोषण तथा पीड़न के लिए खूब सुनायी। उन्होंने पराधीन देशों की मुक्ति का उपाय असहयोग बताया—राज्य की संस्थाओं, अदालतों, पुलिस, फौज, सरकारी स्कूल और कालिजों को त्याज्य बताया और कर देने या फौज में भर्ती हाने का विरोध किया। भारत के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि 'यदि २० करोड़

भारतीय उन अधिकारियों के आदेश का पालन न करें, जो इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि वे हत्या से सम्बन्धित हिंसात्मक कार्यों में सदा भाग लें, यदि वे सैनिक न बनें, यदि वे हिंसात्मक कार्यों की सहायता के लिए कर अदा न करें, यदि वे उन लाभों के लालच में न फसें जिन्हें अत्याचारी लोग उनसे छीन कर पुनः उनके सामने पेश करते हैं, और यदि वे उन पर थोपे गये ब्रिटिश कानूनों को न मानें, तब न केवल ५० हजार अंग्रेज, बल्कि अंगरेजी भाषा-भाषी तमाम लोग मिलकर भी भारत को गुलाम नहीं बना सकते, चाहे २० करोड़ की जगह केवल एक हजार ही भारतीय क्यों न हों।

'टाल्सटाय ने यही अपने विचार सुप्रसिद्ध "एक हिन्दू को पत्र", "एक चीनी को पत्र", "पोलैण्ड की एक महिला को उत्तर" में तथा अन्य सब निबन्धों में व्यक्त किये जहाँ उन्होंने औपनिवेशिक जनता के उत्पीड़न के कारणों का विश्लेषण किया है।'

गांधी जी टाल्स्टाय से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा है कि 'टाल्स्टाय की 'गोस्पेल-इन ब्रीफ' (धर्म-देशना, संक्षेप में), 'व्हाट टु डू' (क्या करें ?) इत्यादि पुस्तकों ने मेरे हित पर गहरी छाप डाली। 'विश्व-प्रेम' 'मनुष्य को कहाँ तक ले जाता है—यह मैं उससे अधिकाधिक समझने लगा।' 'टाल्स्टाय के जीवन में सबसे चमत्कारपूर्ण बात मुझे यह लगी कि उन्होंने जो उपदेश किया उसे ही अपने जीवन में उतारा भी। सत्य के संधान में उन्होंने किसी भी मूल्य को बहुत बड़ा न समझा........वे आधुनिक युग के अहिंसा में सबसे बड़े संदेश-वाहक थे।'

सर्वोदय पथ-प्रदर्शक, रस्किन—अहिंसा के और खासकर सर्वोदय-भावना के प्रसंग में रस्किन का नाम सर्व-विदित है। यह विद्वान लेखक मनुष्य की अच्छाई में विश्वास करता था और बौद्धिक कार्य को शरीर-श्रम से किसी प्रकार कम महत्व का नहीं मानता था।

यह राजनीति तथा अर्थनीति को नीतिमय बनाना चाहता था। इसके मत से मशीनों का उपयोग बहुत ही सीमित तथा विशेष दशाओं में ही होना चाहिए, उन्हें किसी भी प्रकार शोषण का साधन न बनने देना चाहिए। कल-कारखानों के स्वामियों तथा जमींदारों आदि को श्रमियों के प्रति ऐसा प्रेममय व्यवहार करना चाहिए जैसा एक बड़े बुजुर्ग का परिवार के सदस्यों के प्रति होता है। रस्किन ने नीति, कला, चित्र-कारी आदि पर कई पुस्तकों की रचना की है। इसकी 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक से गांधी जी विशेष रूप से प्रभावित हुए और उन्होंने उसका स्वतंत्र भावानुवाद गुजराती में प्रकाशित किया और उसे 'सर्वोदय' नाम दिया। पीछे यह पुस्तक हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में प्रकाशित हुई और गांधी जी द्वारा जिस विचारधारा का प्रचार हुआ, उसका नाम ही सर्वोदय विचारधारा पड़ गया।

गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 'जो चीज मेरे अन्तरतम में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थ-रत्न (अन्टूदिस लास्ट) * में देखा और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया और अपने विचारों के अनुसार मुझसे आचरण करवाया। सर्वोदय के सिद्धान्त को मैं इस प्रकार समझा हूँ—

१—सब के भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक-सा है।

३—सादा मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

'पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ

* इस पुस्तक का परिचय हमारी 'समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय' पुस्तक में दिया गया है।

करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र में आयी तक न थी। पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात सर्वोदय से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखायी देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिन्ता में लगा।'

सविनय अवज्ञा के प्रवर्तक, थोरो—अमरीका के श्री हेनरी डेविड थोरो खासकर 'सविनय अवज्ञा' के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। क्योंकि राज्य का आधार सेना और पुलिस आदि हिंसक शक्ति है, इसलिए अहिंसा की दृष्टि से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। अराजवाद का यही सिद्धान्त है। अराजवादी महानुभाव राज्य का विरोध करते हैं, उसके कायदे-कानूनों की अवज्ञा करते हैं, पर उनमें से जो अहिंसक होते हैं, वे यह कार्य सविनय ही करते हैं, वे सरकारी कर्मचारियों के प्रति कोई जोर-जबरदस्ती आदि नहीं करते। उनका व्यवहार बहुत सौम्य रहता है, और वे राज्य द्वारा मिलने वाले सब कष्टों का सहर्ष स्वागत करते हैं। 'सिविल डिसओबीडियंस' (सविनय अवज्ञा) शब्दों का प्रयोग सर्वप्रथम थोरो ने १८४९ के एक भाषण में किया था। उन्होंने इस विषय की एक पुस्तक भी लिखी थी। उन्होंने राज्य को कर देने से इनकार किया और इसके लिए सहर्ष जेल गये।

स्मरण रहे कि गांधीजी का सविनय अवज्ञा कार्यक्रम उनके सत्य के विचार से उत्पन्न हुआ। थोरो का जो विचार उन्होंने अपने इस कार्यक्रम में अपनाया वह था कर-बंदी अर्थात् सरकार को कोई कर न देना।

विशेष वक्तव्य—जैसा इस अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया गया था, यहाँ हमें कुछ थोड़े से ही महानुभावों के विषय में लिखना था। अहिंसा के सभी संदेश-वाहक हमारे लिए, और सभी मानवता-प्रेमियों के लिए वंदनीय और अनुकरणीय हैं। गांधी जी के विषय में अलग, अगले अध्याय में लिखा जायगा।

———

नवाँ अध्याय

गांधी जी की देन

आधुनिक युग में गांधी जी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं, जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को विकसित किया है। संगठित सामूहिक रूप से बड़े आन्दोलनों में उसका उपयोग किया है, और अनेक कठिन परिस्थितियों में वास्तविक सफल लड़ाइयाँ लड़ कर इस सिद्धान्त के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया है।

—रिचर्ड बी० ग्रेग

जहाँ दूसरे आध्यात्मिक सुधारकों ने चरित्र-निर्माण और जीवन के उच्चतर मूल्यों की शिक्षा दी, वहाँ गांधी जी ने उनको सर्वमान्य सामाजिक रूप में अमल में लाने के लिए एक रास्ता खोज निकाला।

—जयप्रकाश नारायण

अहिंसा की परम्परा; भारत की बात—अहिंसा मानव समाज के प्रारम्भ से ही है; इसके बिना सृष्टि-क्रम, प्राणियों का पालन-पोषण और रक्षण नहीं हो सकता। इस प्रकार यह संसार में सर्वत्र, सभी देशों में रही है। पिछले अध्याय में विविध देशों के अहिंसा-संदेश-वाहकों के विषय में लिखा जा चुका है। तथापि भारत इस दिशा में अग्रसर रहा है।

श्री विनोबा ने कहा है—'ऋग्वेद के कुछ मंत्रों पर से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य को खेती का शोध पहले-पहल भारत में लगा। उस शोध के कारण मांसाहार में से छुटकारे का धर्म दृष्टिगोचर हुआ। तब हमारा पूर्वज यह ऋषि नाचने लगा और कहने लगा, 'धन्य यह भूमि! इसने हमें हिंसा की जरूरत में से छुटकारा दिलाया।'

'....अहिंसा के इतिहास का यह आरम्भ है। उसके बाद गोदुग्ध

की महिमा, भगवान कृष्ण की गो-सेवा, गृत्समद का कपास का शोध, ज्ञानार्जन के लिए जीवन उत्सर्ग करने वाले और दारिद्रय का वरण करने वाले सेवक-वर्ग की स्थापना, क्षात्रधर्म का सीमाकरण, शिक्षण पर राजसत्ता का अनियंत्रण, आश्रम-व्यवस्था, यतियों के हाथ में दंड, ब्रह्म विरोधी तत्वों को पचाने वाला भक्ति मार्ग, अहिंसा के लिए यज्ञ और अहिंसा के ही लिए यज्ञ-निषेध, महावीर और बुद्ध के समाज-सुधार, ग्राम-पंचायतें, बाहर के संसार के लिए मुक्त प्रवेश, बाहर के जगत पर अनाक्रमण, एक या दो नहीं, असंख्य चैतन्य लहरें और उन सब का फलित स्वराज्य-लब्धि का मिला हुआ मार्ग—'यतेमहि स्वराज्ये' कह कर जिसके लिए वह वैदिक ऋषि छटपटाता था। इस तरह यह थोड़े में लेखा-जोखा है, ढाँचा है और निवेडा है।' ❀

गांधी जी की विशेषता—अहिंसा के विकास की मुख्य-मुख्य अवस्थाओं का उल्लेख पहले किया गया है। गांधी जी से पहले समय-समय पर अनेक सज्जनों ने व्यक्ति निष्ठ अहिंसा के अच्छे प्रयोग किये थे, इसके लिए उन्होंने काफी त्याग किया और कष्ट सहे और उन्हें अपने उद्देश्य में अच्छी सफलता भी मिली थी। तथापि यह सब प्रयोग अधिकतर व्यक्तिगत ही रहा। खासकर गांधी जी ने अहिंसा को सामाजिक रूप प्रदान किया, अहिंसात्मक साधनों द्वारा हिंसा का सामूहिक प्रतिकार का मार्ग दिखाया और इसका सफल प्रयोग कर दिखाया। इस प्रकार अहिंसा के विकास में इनकी यह खास देन है। इसे भली-भाँति समझने के लिये हम विचार करें कि इनके पहले और इनके समय तक अहिंसा के विषय में क्या दृष्टि रही। इस पर श्री जवाहिर-लाल जैन की आगे की पंक्तियों से अच्छा प्रकाश पड़ता है—

मुझे लगता है कि पच्चीस सौ वर्ष के बाद आज का युग फिर

❀ 'सर्वोदय', जनवरी १९५१, कवर का अन्तिम पृष्ठ; एक पत्र से, मूल मराठी।

हमारे देश के इतिहास में ऐसा आया है जब मानवधर्म की, अहिंसा के मौलिक और सृजनात्मक चिंतन, विवेचन, अध्ययन और प्रचार की अत्यंत आवश्यकता और अनुकूलता है। महावीर और बुद्ध अपने-अपने तरीके और अनुभव के अनुसार अहिंसा के महान चिंतक और व्यवहारकर्ता होने के बावजूद अपने समय की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति से बँधे हुए थे। वे अहिंसा के आचरण को व्यक्तिगत क्षेत्र में अथवा सांसारिक झंझटों से अलग, केवल अहिंसा के प्रयोगों के लिए समर्पित और समाज द्वारा अलग से पोषित श्रमण वर्ग तक ही सामूहिक रूप से लागू कर सके; जन सामान्य को राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा को लागू करने के लिए कह सकना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ; शस्त्रयुद्ध का बहिष्कार अथवा हिंसक और शोषक पेशों पर रोक संभवतः उस युग के लिए असम्भव थी, अथवा बहुत आगे की बात थी। इस प्रकार जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अनुयायी गृहस्थ के लिए उस समय अहिंसा का आचरण आदर्श रूप में भी सीमित ही माना गया और इस प्रकार आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा जन-समान्य के लिए युक्त समझी गयी।

'हमारे देश के इतिहास में सम्भवतः ईसा की यह बीसवीं शताब्दी फिर ऐसा युग लायी है जिसमें अहिंसा के विचार, विवेचन और अनुभव को बल और दिशा मिली है। पश्चिम के वैज्ञानिक आविष्कार और औद्योगिक क्रांति, भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से उत्पन्न राजनैतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा दो विश्वयुद्धों ने मिलकर भारत में अहिंसा के नये चिंतन और प्रयोगों को गांधीजी के नेतृत्व में जन्म दिया और उन्होंने जो विचार, आचरण और कार्य के बीज इस देश में छोड़े हैं, उनके परिणामस्वरूप यह चिंतन और आचरण आधुनिक विश्व की विचारधारा में आशापूर्ण तेजस्विता और मौलिकता प्राप्त करता हुआ लगता है।' *

---

* 'जैन जगत', मार्च-अप्रैल १९५२.

अहिंसा का क्षेत्र व्यक्ति तक नहीं, वह सामाजिक है—स्पष्ट है कि गांधी जी ने यह दृष्टि दी कि अहिंसा वैयक्तिक या निजी जीवन का गुण नहीं है, वरन् ऐसा गुण है जिसका सामाजिक या सामूहिक उपयोग हो। यहाँ उनके इस प्रसंग सम्बन्धी कुछ कथन उद्धृत किये जाते हैं, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जायगा। उन्होंने कहा है—'मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है, वह पिंड भी है और ब्रह्मांड भी। वह अपने ब्रह्मांड का बोझ अपने कन्धे पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खत्म हो जाता है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है।' †

'जिस अहिंसा की हद एक व्यक्ति तक है, वह समाज के काम की नहीं। मनुष्य समाजी जीव है, इसलिए उसकी शक्तियाँ ऐसी होनी चाहिए कि समाज के सब लोग कोशिश से उसे अपने में बढ़ा सकें। दोस्तों के बीच जो सीखा या पढ़ाया जा सके, वह गुण विनय या नम्रता है। उसमें अहिंसा का थोड़ा अंश है, लेकिन वह अहिंसा के नाम से पहचाना जाने लायक नहीं है। अगर यह दुनिया वैर से भरी होती तो इसका कभी का अन्त हो गया होता। आखिर में दुनिया में प्रेम ही बढ़ता है। उससे दुनिया टिकी है और टिकती है।' ❀

अहिंसा व्यापक और सब के लिए—'अहिंसा अगर व्यक्तिगत गुण है तो यह मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। यह करोड़ों की है। मैं तो उनका सेवक हूँ। जो चीज करोड़ों की नहीं हो सकती, वह मेरे लिए त्याज्य है और मेरे साथियों के लिए भी त्याज्य ही होना चाहिए। हम तो यह सिद्ध करने के लिए

---

† गांधी सेवा संघ की सभा, वर्धा, २२-६-४०

❀ पन्द्रह अगस्त के बाद [नयी दिल्ली, ८-१२-४७]

पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं। यह समुदाय, जाति, और राष्ट्र की नीति हो सकती है।.... मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है। यह आत्मा का गुण है, इसलिए यह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। अहिंसा सब के लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है। अगर यह दरअसल आत्मा का गुण है तो हमारे लिए यह सहज हो जाना चाहिए। आज कहा जाता है कि सत्य व्यवपार में नहीं चलता, राजकारण में नहीं चलता। तो फिर वह कहाँ चलता है? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो वह कौड़ी-कीमत की चीज नहीं है। जीवन में उसका उपयोग ही क्या रहा?....सत्य और अहिंसा कोई आकाश-पुष्प नहीं है। ये हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कार्य में प्रकट होने चाहिए।' †

अहिंसा का संगठन—अहिंसा का सामाजिक रूप में उपयोग होने की बात मान्य होने से यह स्पष्ट ही है कि अहिंसा का संगठन हो सकता है और किया जाना चाहिए। गांधी जी ने कहा है कि "अगर अहिंसा संगठित नहीं हो सकती तो वह धर्म नहीं है। यदि मुझमें कोई विशेषता है तो यही कि मैं सत्य और अहिंसा को संगठित कर रहा हूँ।...जो बात मैं करना चाहता हूँ और जो करके मरना चाहता हूँ, वह यह है कि मैं अहिंसा को संगठित करूँ। अगर यह सब क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नहीं है तो झूठ है। मैं कहता हूँ, जीवन की जितनी विभूतियाँ हैं, सब में अहिंसा का उपयोग है।" ❀

अहिंसा का समाज-सुधार के लिए उपयोग—पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन दार्शनिकों ने लोगों के निजी जीवन को सुधारने का, उनसे व्यक्तिगत व्यवहार में अहिंसा आदि गुणों का उपयोग

---

† गांधी सेवा संघ सम्मेलन, मलिकांदा (बङ्गाल), २२-२-४०

❀ गांधी सेवा संघ सम्मेलन, हुबली, २०-४-३७

कराने का बहुत प्रयत्न किया। उनसे प्रेरणा लेकर अनेक आदमी अपना-अपना मोक्ष प्राप्त करने में लगे। इससे उन आदमियों का निजी जीवन बहुत सुधरा। उन्होंने अपने खान-पान, यात्रा, सोने-बैठने आदि में अहिंसा का बेहद परिचय दिया—इसमें संदेह नहीं, तथापि समाज में उनकी संख्या हमेशा ही बहुत अल्प रही। यति, साधु-संन्यासी आदि देश में आखिर कितने होते हैं! फिर, इनमें से कुछ की अहिंसा-साधना बहुत कुछ बाहरी या दिखावे की रही। इस प्रकार सच्चे अहिंसक बहुत कम रहे, और ये प्रायः समाज से जुदा पड़ गये। समाज के विविध अंग—हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुसलमान आदि—कुछ बहुत ही पहुँचे हुए महात्माओं, भक्तों और पूजारियों का गर्व करते हुए सामूहिक रूप में लोगों को विशेष प्रभावित न कर सके।

गांधी जी की विशेषता यह रही कि उन्होंने अहिंसा का उपयोग केवल व्यक्तिगत जीवन का सुधार करने तक ही परिमित न रख कर उसे सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। उन्होंने बतलाया और अपने उदाहरण से दिखलाया कि अहिंसा को सामूहिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में किस प्रकार काम में लाना चाहिए और जब समाज में कोई बुराई फैली हुई हो तो अहिंसा-वृत्ति को किस प्रकार उसका प्रतिकार करना चाहिए।

अहिंसक प्रतिकार (१) असहयोग—गांधी जी ने बताया कि सामाजिक बुराई का प्रतिकार अहिंसात्मक रूप से करने का अर्थ यह नहीं है कि हम उसे देख कर निष्क्रिय बैठे रहें, और आवश्यक सुधार अपने आप हो जाने तक प्रतीक्षा करते रहें। अहिंसक प्रतिकार के लिए हमें अपने स्वार्थ, भय आदि का परित्याग कर, दुर्जनों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न रख कर और उन्हें किसी तरह कष्ट न पहुँचाते हुए प्रेम-पूर्वक उनसे असहयोग करना चाहिए। इसमें जो भी परिणाम सामने आवे, हमें अपनी दृढ़ता बनाये रखनी चाहिए। कल्पना

करो कुछ आदमी हम पर हमला करते हैं तो गांधी जी के मत से हमें जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उनमें से कुछ ये हैं—

'हमला करने वाले के आगे हम न घुटने टेकेंगे और न उसके किसी हुक्म की पाबन्दी करेंगे।'

'हम उससे किसी रियायत या इनाम की उम्मीद नहीं करेंगे और न उससे किसी तरह की रिशवत लेंगे। लेकिन हम उसके लिए दिल में कोई बुरा ख्याल नहीं लायेंगे और न उसकी बुराई चाहेंगे।'

'अगर वह हमारे खेतों पर कब्जा करना चाहता है तो हम उन्हें छोड़ने से इनकार कर देंगे, चाहे उसका मुकाबला करने में हमें अपनी जान ही देनी पड़े। अगर उसे कोई बीमारी हो या वह प्यास से परेशान हो और हमारी मदद चाहता हो तो हम इनकार नहीं करेंगे।'

हमारे ऐसे व्यवहार से अत्याचारियों को हम से वह लाभ उठाने का मौका नहीं मिलेगा जो वह चाहते हैं। इससे उनके मन पर हमारे प्रति कोई दुर्भाव न होगा, वरन् सम्भावना यही है कि वह धीरे-धीरे आत्म-निरीक्षण में लगें, उनका रुख बदले और वे अपने आचरण को सुधारने की बात सोचें। इस प्रकार असहयोग में दृढ़ता, निर्भीकता और निस्स्वार्थता रखने से अत्याचारी की निराशा और हमारी सफलता निश्चित है चाहे इसमें समय हमारे अनुमान या इच्छा की अपेक्षा कुछ अधिक लगे। पर उसके लिए हमें धैर्य रखना चाहिए।

असहयोग का कार्यक्रम—असहयोग की पद्धति में देश-कालानुसार कुछ भिन्नता हो सकती है। भारत में गांधी जी के नेतृत्व में अंग्रेज सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनायी गयी, उसकी मुख्य बातें ये थीं—

(१) सारी सरकारी उपाधियों और खिताबों, अवैतनिक नौकरियों, सरकारी दावतों, एवं दरबारों का त्याग।

(२) नयी कौंसिल का बहिष्कार।

(३) सरकारी और अर्द्ध-सरकारी पाठशालाओं, स्कूलों और कालिजों से अपने बालकों को उठा लेना।

(४) वकीलों का वकालत छोड़ना और मुकदमों को पंचायत द्वारा निबटाना।

(५) सरकारी कर्जे में रुपया न देना, मैसोपोटेमियाँ में सिविल तथा मिलिटरी नौकरी स्वीकार न करना, सेना में नौकरी के लिए अर्जी न देना विशेष कर टर्की के उन प्रदेशों में जहाँ पर कि सरकारी दिये हुए वचनों के विरुद्ध उस समय शासन किया जा रहा था।

(६) स्वदेशी का प्रचार करना।

(२) सत्याग्रह—अत्याचारी व्यक्ति के विरुद्ध, सत्याग्रह का उपयोग भारत में बहुत प्राचीन काल में भी हुआ है, अन्य देशों में भी कभी-कभी इसके उदाहरण मिले हैं। परन्तु गांधी जी द्वारा इसका उपयोग सामाजिक रूप से हुआ। इसका उद्देश्य यही होता है कि अपने विरोधी को उस सत्य का ज्ञान कराया जाय, जिसे भूल जाने के कारण वह हिंसा या शोषण आदि करता है। सत्याग्रही का यह कार्य तभी होता है जब उसके हृदय में सत्य का यथेष्ट प्रकाश हो, विपक्षी के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न होकर यथेष्ट प्रेम और सहानुभूति हो। वह अपना कार्य निरहंकार और निष्काम-भाव से करे और इसमें अपने जीवन का विकास माने। सत्याग्रही का सब व्यवहार खुले आम होता है, कोई बात गुप्त नहीं होती, यहाँ तक कि वह अपनी योजना की विपक्षी को नियमित रूप से सूचना देता रहता है। ज्यों-ज्यों वह कष्ट उठाता है; वह जनता की सहानुभूति अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने में सफलता प्राप्त करता है। इसका विरोधी पर यथेष्ट प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। क्रमशः उसका अज्ञान दूर होगा, उसे सत्य के दर्शन होंगे, वह सत्याग्रही की मांग पर शान्ति से विचार करेगा, और उसे स्वेच्छा से स्वीकार करने की स्थिति में आयेगा। इस प्रकार सत्याग्रह का परिणाम यह होगा विपक्षी का हृदय-परिवर्तन हो और दोनों पक्षों में प्रेम और सद्भाव बढ़े, जबकि हिंसक प्रतिकार से दोनों पक्षों में मनोमालिन्य

और शत्रुता की वृद्धि होती रहती है, जो वर्षों, एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में चलती रहती है।

साधन-शुद्धि का आग्रह—असहयोग और सत्याग्रह सम्बन्धी गांधी जी के विचार साधारणतः लोगों को बड़े अजीब मालूम होते हैं। अपने आप को चतुर और होशियार मानने वाले तो उन्हें सनक या मूर्खता-पूर्ण कहते हैं। इन लोगों का मत है कि हमें तो साध्य से मतलब है, वह जैसे भी, जिन साधनों से भी प्राप्त हो सके, ठीक है। वर्तमान व्यवस्था में बहुत दुःख और कष्ट हैं, हम इसे सहन नहीं कर सकते, इसलिए इसे तोड़-फोड़कर नष्ट कर डालना ज़रूरी है। अगर इसके लिए कुछ आदमियों को, जरूरत हो तो हजारों आदमियों को भी मौत के घाट उतार देना चाहिए। भावी शान्ति के लिए वर्तमान में अशान्ति बढ़ाना बुरा नहीं, वरन् उपयोगी है। इसी प्रकार यदि कोई हम पर हमला करना चाहता है तो हमारा उसको मार डालना और हो सके तो उसके साथ उसकी स्त्री और बालबच्चों तथा साथियों को भी मार देना या उन्हें तरह-तरह से सताना जरूरी है। इसमें उचित-अनुचित के चक्कर में पड़ना व्यर्थ है। जबकि साध्य ठीक है तो साधनों की क्या फिक्र।'

इस विषय में गांधी जी की दृष्टि दूसरी है, और स्पष्ट है। उन्होंने साधन-शुद्धि का आग्रह रखते हुए कहा है—'लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन ही है। मैं कहता हूँ, साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन होगा, साध्य भी वैसा ही हो जायगा। साध्य और साधन के बीच कोई दीवार नहीं है। ईश्वर ने हमें साधन पर ही नियंत्रण रखने की शक्ति दी है, और वह भी बहुत सीमित; साध्य पर बिलकुल नहीं। साधन का जितना अमल होगा, साध्य की प्राप्ति भी उसी अनुपात में होगी। इस सिद्धान्त में कोई अपवाद की गुंजायश नहीं।' 'साधन एक बीज के समान है, और साध्य वृक्ष के, और साधन और साध्य में वही

अविच्छेद सम्बन्ध है जो एक बीज और वृक्ष में होता है।' 'यदि एक व्यक्ति साधन की चिन्ता कर लेता है तो साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा।'

गांधी जी का लक्ष्य अहिंसक समाज-रचना, और हमारी संकुचित दृष्टि—गांधीजी अहिंसक समाज-रचना करना चाहते थे, जिसमें शोषण, पीड़न न हो और जन-जन का आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक सभी प्रकार का उत्थान हो। वहाँ तक हमारी दृष्टि नहीं गयी। उनके लिए राजनीति एक साधन-मात्र थी। उन्होंने कहा था "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिए कि आज राजनीति हमें साँप की कुंडली की तरह चारों ओर से घेरे हुए है। हम कोशिश करके भी उसके घेरे से बाहर नहीं आ सकते। इसलिए मैं उस साँप से लड़ना चाहता हूँ।" पर हमने गांधीजी को एकमात्र नहीं तो प्रधानतया राजपुरुष ही समझा। अहिंसा को हमने एक नीति या युक्ति मात्र माना; हाँ, उसे सर्वश्रेष्ठ नीति माना क्योंकि हमारे सामने दूसरा कोई विकल्प ही न था। हम सोचते थे कि आतंकवाद कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसके साधन कभी-भी इतने शक्तिशाली नहीं हो सकते कि सरकार के संगठित बल से अच्छी तरह टक्कर ले सकें। रहा, विधानवाद। चिरकाल से भारत अंग्रेजों की सेवा में प्रार्थना-पत्र, प्रस्ताव और मेमोरेंडम (स्मृति-पत्र) भेजता रहा है, पर सरकार सुनती ही नहीं है। थोड़ा-बहुत कहीं कुछ सुधार होता है, तो वह जख्म पर ऊपरी मरहम-पट्टी करने सरीखा होता है, उससे कुछ वास्तविक इलाज नहीं होता। इसलिए अब जनता का अहिंसा-नीति का ही प्रयोग करना ठीक है, परन्तु यह केवल हमारी लाचारी के कारण, हिंसक साधन यथेष्ट न होने के कारण। अहिंसा के सिद्धांत की गहराई हमारे मन में नहीं बैठी। हम गांधी विचारधारा के केवल राजनैतिक पहलू की ओर सोचते रहे। ज्यों-ज्यों भारत को राजनीतिक

अन्दोलन में सफलता मिलती गयी, हमने गांधीजी के उद्देश्य को पूरा होता हुआ माना। यहाँ तक कि सन् १९४७ में भारत को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उसमें हमने गांधी जी की नीति की चरमसिद्धि समझी। केवल यह विचार अवश्य रहा कि गांधीजी सारे भारत को एक राष्ट्र मानते थे, उसका विभाजन होना और पाकिस्तान बनना उनके विचार के अनुसार न था।

गांधीजी ने अर्थ-व्यवस्था में भी अहिंसा का समावेश किया। बात यह है कि उनके सामने समाज का समग्र जीवन था; इसलिए वे राजनीतिक कार्यक्रम के साथ-साथ खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-स्वावलंबन आदि का भी कार्यक्रम रखते थे। हमने इन बातों की उपयोगिता यही समझी कि ये गरीबों को कुछ राहत या मदद पहुँचाने के काम हैं। इन बातों की कोई बुनियादी गहराई हमारे ध्यान में नहीं आयी। हमने गांधीजी को अर्थशास्त्री नहीं माना और इसलिए उनके विचारों के आधार पर भारत के राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की रचना हो सकती है, यह कल्पना नहीं की। यही कारण है कि गांधी जी के भारतीय नेतृत्व ग्रहण करने के बहुत वर्षों बाद तक भी जो अर्थशास्त्र ग्रन्थ लिखे गये, उनकी रूपरेखा पुराने पूँजीवादी अर्थशास्त्र जैसी बनी रही। यद्यपि गांधी जी बराबर अपने लेखों और भाषणों से अर्थशास्त्र को नयी दिशा देते रहे, हमारे अर्थशास्त्रियों ने उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। पीछे श्री जे० का० कुमारप्पा, नरहरि परिख, और इन पंक्तियों के लेखक तथा कुछ अन्य सज्जनों ने गांधी विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र की रूप-रेखा तैयार की, पर उसे अभी कुछ उल्लेखनीय मान्यता नहीं मिली। विद्वानों या विशेषज्ञों की दृष्टि में उसका कुछ मूल्य नहीं, शिक्षा-संस्थाओं में उसका स्वागत नहीं। इस प्रकार गांधी जी के लक्ष्य अर्थात् अहिंसक समाज-रचना के सिद्धान्तों की ओर, तथा उसके लिए आवश्यक रचनात्मक कार्यों की ओर हमारी दृष्टि संकुचित रही।

विशेष वक्तव्य—अस्तु, गांधी जी केवल एक राजपुरुष न थे,

केवल अर्थशास्त्री नहीं थे और केवल समाज-सुधारक या नैतिक पथ-पदर्शक भी न थे। वे तो सब-कुछ थे। उनको समझने के लिए मस्तिष्क की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि हृदय की है; शिक्षा या ज्ञान की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी कि दूसरों के साथ घुल-मिलकर उनके सुख-दुःख में एक हो जाने की। उनका कथन है—"मैं गरीब से गरीब हिन्दुस्तानी के जीवन के साथ अपने जीवन को मिला देना चाहता हूँ।" और "मैं इस आशा में जीता हूँ कि इस जन्म में नहीं, तो दूसरे जन्म में अपने प्रेमपूर्ण आलिंगन में सारी मानवता को हृदय से लगा सकूँगा।" यह है सर्वोदय की भावना। प्रत्येक व्यक्ति को, संस्था को तथा सरकार को, जो अपने-आपको गांधी का अनुयायी, समर्थक या प्रशंसक मानती हो, उपर्युक्त कथन पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

दसवाँ अध्याय

अहिंसा के बढ़ते चरण

मानव द्वारा अहिंसा का विकास अनादि काल से हो रहा है, तो भी आज भी वह विकास-क्रिया जारी ही है।

—विनोबा

'इस तरह तय हमने की है मंजिलें।
गिर पड़े, गिर कर उठे, उठ कर चले ॥'

अहिंसा की प्रगति, पशुओं केप्रति अहिंसा—मनुष्य में प्रारम्भ में हिंसा की भावना थी और उसके साथ ही अहिंसा की भी। हिंसा की भावना पशुओं के प्रति ही नहीं थी, मनुष्यों के प्रति भी थी। ये दोनों भावनाएँ किसी न किसी रूप में थोड़ी या बहुत अब भी अधिकांश आदमियों में हैं। तथापि मनुष्य में क्रमशः अहिंसा का विकास हुआ है, चाहे उसकी गति कितनी ही मंद क्यों न हो। हम देखते हैं, सभी धर्मों के आचार्यों तथा अन्य अनेक महानुभावों ने अहिंसा का उपदेश मन, वचन और कर्म से दिया है। समय समय पर कितने ही पुरुषों और स्त्रियों, युवकों और बूढ़ों ने भारी संकट सहकर भी, यहाँ तक कि जान जोखिम में डालकर भी पशुओं या दूसरे मनुष्यों की जान बचायी है। पशुओं के प्रति अहिंसा के विकास का एक स्थूल प्रमाण हमारे सामने है—भले ही वह बहुत छोटा है। संसार के विविध देशों में कितने ही आदमी ऐसे हैं जो अपने भोजन अथवा अन्य किसी भी स्वार्थ के लिए, किसी भी दशा में जान बूझ कर पशु-हत्या नहीं करते। भारत का जैन समाज तो सारा का सारा ही ऐसा है, जो पशु-हिंसा न करने का दृढ़ व्रत पालन करता है। दूसरे भी बहुत से आदमी, जुदा-जुदा अपने-अपने तौर पर इस दिशा में बढ़ने के लिए प्रयत्न-शील हैं।

मनुष्यों के प्रति अहिंसा—मनुष्य की मनुष्यों के प्रति भी अहिंसा की भावना विकसित होती रही है जैसा गांधी जी ने लिखा है, 'हमारे पूर्वज एक दूसरे को खा जाते थे। बाद में शिकार पर गुजारा करने लगे। इसके बाद शिकार पर जिन्दा रहने से भी उन्हें शर्म आयी। इसलिए मनुष्य जमीन में से अनेक प्रकार का भोजन प्राप्त करने लगा। कौटुम्बिक भावना जाग्रत हुई, जिसने और आगे बढ़कर सामाजिक भावना का रूप लिया। यह सब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अहिंसा की निशानियाँ हैं।'

हिंसा के प्रतिरोध का विचार—अहिंसा की भावना वाले व्यक्ति के सामने एक समस्या यह होती है कि दूसरों के द्वारा की जाने वाली हिंसा का प्रतिरोध किस प्रकार किया जाय, समाज की हिंसकों से रक्षा कैसे हो। इस विषय में समय-समय पर विविध प्रयोग हुए; जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया, पिछले प्रयोग को सुधारा या बदला गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्थूल रूप से अब तक तीन प्रकार के प्रयोग किये गये, और अब हमारे सामने चौथा प्रयोग है।

(१) हिंसा द्वारा अहिंसा की स्थापना—श्री विनोबा ने अपने 'गीता-प्रवचन' पुस्तक में कहा है—'पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगों के हमले से कैसे बचाव किया जाय। शुरू में समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया, परन्तु वह आगे चल कर समाज-भक्षण करने लगा तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि उन्मत्त क्षत्रियों से समाज का बचाव कैसे किया जाय। परशुराम ने स्वयं अहिंसक होकर भी हिंसा का अवलम्बन किया। वे क्षत्रियों का विनाश करने लगे। क्षत्रियों से हिंसा छुड़ाने के लिए वे स्वयं हिंसक बने। यह अहिंसा का प्रयोग था, परन्तु सफल नहीं हुआ। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बचे ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूल में ही गलत था। जिन क्षत्रियों को

नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक क्षत्रिय और बढ़ गया। तो फिर वह क्षत्रिय-वर्ण नष्ट कैसे होता। वे स्वयं ही हिंसक क्षत्रिय बन गये। वह बीज तो कायम ही रहा। बीज को कायम रख कर जो झाड़-पेड़ तोड़ेगा, उसे वह पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी, परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वतः क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुतः उन्हें अपने से ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था...हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नहीं। इससे उल्टे हिंसकों की संख्या ही बढ़ती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यान में नहीं आयी। उस समय के भले-भले आदमियों ने, परम् अहिंसामय व्यक्तियों ने जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस काल के महान अहिंसावादी थे। हिंसा के उद्देश्य से उन्होंने हिंसा नहीं की। *अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा की।'*

(२) दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा करते हुए अहिंसा—'यह प्रयोग असफल हो गया। बाद में राम का युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणों ने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसों के आक्रमण से बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करने वाले तो हैं ही, उन्हीं से राक्षसों का संहार करा डालना चाहिए। कांटे से कांटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वतः दूर रहें। अतः विश्वामित्र ने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मण को ले जाकर उनके द्वारा राक्षसों का संहार करवाया। आज हम ऐसा सोचते हैं, कि जो हिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पाँव नहीं हैं ऐसी लँगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी। परन्तु वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसों को क्षत्रियों के बल पर अपनी रक्षा करा लेने में कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि राम के जैसा क्षत्रिय न मिला होता? विश्वामित्र कहते 'मैं भले ही मर जाऊँ, पर हिंसा नहीं करूँगा', क्योंकि हिंसक बन

कर हिंसा दूर करने का प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चित ही हो चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। यदि कोई क्षत्रिय न मिला तो अहिंसक मर जाना पसन्द करेंगे।....इस अहिंसा में ब्राह्मणों का त्याग तो था, परन्तु साथ ही दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी विवशता से अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुँच सकती थी।'

(३) **अहिंसा का व्यक्तिनिष्ठ प्रयोग**—'संतों ने आगे चल कर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया—'हम अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।' संतों का यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता को पहुँचा दिया, परन्तु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगों के हमले होते और समाज संतों से आकर पूछता कि 'अब हम क्या करें' तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते।....अहिंसा के साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करने की उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो कह नहीं सकते, लेकिन उस समय की परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये, परन्तु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगों से ही शास्त्र की रचना होती है।'

(४) **अहिंसात्मक साधनों से हिंसा का सामूहिक प्रतिरोध**—'संतों के व्यक्तिगत प्रयोग के बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिल कर अहिंसात्मक साधनों से हिंसा का प्रतिकार करे।'

'इस तरह चार प्रयोग अब तक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोग में अपूर्णता थी और है। विकास-क्रम में यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस काल के लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार साल के बाद आज के इस हमारे अहिंसक युद्ध में भी बहुत कुछ

हिंसा का भाग दिखायी देगा। शुद्ध अहिंसा के और प्रयोग होते ही रहेंगे।'

अहिंसा के विकास के लिए क्षेत्र—अहिंसा का विकास चिर-काल से होता आ रहा है, तथापि विकास-कार्य अभी पूरा नहीं हुआ, उसके लिए बहुत क्षेत्र पड़ा है। जैसा श्री विनोबा ने कहा है, 'जब तक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तब तक विकास के लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाय फिर भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्ति को अपने विकास की खाद देकर फिर समाज, राष्ट्र के लाखों व्यक्तियों के विकास की शुरुआत करनी होती है। जैसे मानव द्वारा अहिंसा का विकास अनादि काल से हो रहा है, तो भी आज भी वह विकास-क्रिया जारी ही है।'※

अस्तु, इस समय हमारे सामने अहिंसा का खासकर चौथा प्रयोग—हिंसा का अहिंसात्मक साधनों से सामूहिक प्रतिरोध—चल रहा है। इसके विषय में विशेष विचार आगे किया जायगा।

※ 'गीता-प्रवचन' से

ग्यारहवां अध्याय

अहिंसात्मक प्रतिरोध के उदाहरण

यदि अहिंसात्मक प्रतिरोध जनता को प्रभावित नहीं कर सकता तो व्यक्तियों के लिए भी उसका विकास करना शक्ति की बरबादी है। मैं उसे ईश्वर का सर्वोत्तम वरदान समझता हूँ, और ईश्वर के सभी वरदान उसकी समस्त सृष्टि की सामान्य सम्पत्ति हैं, न कि कुछ मठों में रहने वाले साधु-सन्यासियों की। यदि उनके आविष्कार और दावे सत्य हों तो वे जनता के व्यवहार योग्य होने चाहिये। यदि सत्य केवल कुछ लोगों की सम्पति नहीं है तो उसी का दूसरा रूप अहिंसा भी केवल कुछ लोगों की वस्तु कैसे हो सकती है ?

—गांधी जी

अहिंसात्मक प्रतिरोध का अर्थ—जब कोई व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह द्वारा किये जाने वाले किसी प्रकार के—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि—दुर्व्यवहार, शोषण या अत्याचार का विरोध शान्ति और प्रेम पूर्वक, अपने विपक्षी के प्रति कोई दुर्भाव न रखते हुए और समाज के व्यापक हित का ध्यान रखकर करता है तो उसे अहिंसात्मक प्रतिरोध कहा जाता है। यह याद रखना जरूरी है कि 'जो लड़ने का साहस रखता है और फिर भी लड़ाई नहीं करता, वही सच्चा अहिंसक प्रतिरोधी है। कायर के हृदय में भय होता है, इसलिए वह प्रेम नहीं कर सकता, और यदि वह प्रेम नहीं कर सकता तो सफल प्रतिरोधी नहीं हो सकता।'

अहिंसात्मक प्रतिरोध व्यक्तिगत रूप से तो प्राचीन समय से होते

आये हैं, पर सामूहिक रूप से करने की ओर विशेष ध्यान थोड़े समय से ही, खासकर गांधी जी के विचारों और प्रत्यक्ष उदाहरणों के कारण दिया जाने लगा है। हम यहाँ सामूहिक रूप से किये जाने वाले अहिंसात्मक प्रतिरोधों का ही कुछ परिचय देंगे। पहले यह बात हमारे ध्यान में अच्छी तरह आ जानी चाहिए कि ये सम्भव है।

सामूहिक भी सम्भव है, मनोवैज्ञानिक पहलू—बहुत से आदमी जब सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध की बात सुनते हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है। वे अहिंसात्मक व्यवहार को व्यक्ति तक ही सीमित समझते हैं, इसके सामूहिक रूप में होने की बात उनके दिल में नहीं बैठती। जैसा गांधी जी ने कहा है, हम लोगों के हृदय में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी है नहीं। अहिंसा सामाजिक धर्म है, सामाजिक धर्म के तौर पर विकसित की जा सकती है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है। यह नयी चीज है, इसलिए इसे झूठ समझ कर फेंक देने की बात इस युग में तो कोई नहीं करेगा। यह कठिन है, इसलिए अशक्य है, यह भी इस युग में कोई नहीं कहेगा; क्योंकि बहुत सी चीजें अपनी आँखों के सामने नयी-पुरानी होती हमने देखीं हैं; जो अशक्य लगता था, उसे शक्य बनते हमने देखा है।'*

सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध के मनोवैज्ञानिक पहलू पर श्री रिचर्ड बी० ग्रेग ने अपनी पुस्तक 'अहिंसा की क्रान्ति' में विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला है। यह बताकर, कि हिंसक के क्रोध और भय को दूर करने से उसकी हिंसा कम होती है, उन्होंने कहा है कि 'भय और क्रोध इन दोनों मानसिक आवेशों का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। दोनों का उद्गम कारण एक ही है—अर्थात् कष्टदायक, खतरनाक या अप्रिय वस्तु

* 'हरिजन सेवक', २४-८-४०

या परिस्थिति से व्यक्ति को पृथक् करना। यदि व्यक्ति समझता है कि वह उस वस्तु या परिस्थिति से बलवान है तो क्रोध का भावावेश होता है, और यदि वह समझता है कि वह उस वस्तु या परिस्थिति से कमजोर है तो भय का भावावेश होता है। घृणा, स्थगित किये हुए या असफल क्रोध का ही रूप है। भय में किसी-न-किसी प्रिय वस्तु या परिस्थिति या अपने प्राण की हानि की आशंका रहती है। भय या क्रोध दोनों का आधार संभवनीय हानि है। यदि हानि की आशंका हटा दी जाय तो भय या क्रोध दोनों हट जाते हैं।

'भय के साथ पलायन की स्वाभाविक वृत्ति रहती है, और क्रोध के साथ लड़ाकूपन की स्वाभाविक वृत्ति रहती है। हम सब जानते हैं कि हिंसात्मक युद्ध-कला में शिक्षण और अनुशासन द्वारा भय का आवेश और पलायन की वृत्ति का संयमन हो जाता है। चूँकि यह बात सम्भव है, इसलिए हमें यह भी सम्भव मानना चाहिए कि क्रोध का आवेश और लड़ाकू की वृत्ति भी शिक्षण और अनुशासन से संयमित हो सकती है। इसी कारण 'सामूहिक सत्याग्रह भी सम्भव है।

'सामूहिक भावनाओं और सामूहिक भावनाओं द्वारा सामूहिक कार्यों के नियंत्रण की शक्ति का अस्तित्व है, और ये बातें इच्छापूर्ण प्रयत्न से विकसित भी हो सकती हैं। इस कारण भी सिद्ध होता है कि सामूहिक सत्याग्रह सम्भव है।'

'....सैनिक-अनुशासन में भय और क्रोध का आंशिक और अल्पकालिक संयमन आवश्यक होता है। अहिंसात्मक अनुशासन सम्भवतः संख्या की दृष्टि से कुछ अधिक कठिन हो, क्योंकि इसमें भय और क्रोध के अधिक पूर्ण संयमन की आवश्यकता है, किन्तु गुण या तत्व की दृष्टि से अधिक कठिन नहीं है, क्योंकि इन दोनों भावावेशों का उत्पत्ति-कारण एक ही है और लक्ष्य (व्यक्तिगत आत्म संरक्षण द्वारा जाति-संरक्षण) भी समान ही है। और यह भी प्रतीत होता है कि

अब तो मनुष्य जाति ने इतना ज्ञान और बुद्धि विकसित करली है कि उसके नेता अधिक संख्या में इस नये प्रकार के अनुशासन की संभावनाओं को समझ सकते हैं।'

हंगरी का अहिंसात्मक प्रतिरोध—श्री रिचर्ड बी० ग्रेग की पूर्वोक्त पुस्तक में विविध देशों के कुछ अहिंसात्मक प्रतिरोधों के उदाहरण दिये गये हैं, उनमें से एक हंगरी का है, जो अब से लगभग सौ वर्ष पहले हुआ था। संक्षेप में उसकी बात इस प्रकार है—सम्राट् फ्रांज जोसेफ आस्ट्रिया और हंगरी दोनों देशों के संघ सम्बन्धी शर्तों के विरुद्ध, हंगरी को आस्ट्रियन सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न कर रहा था। हंगरी के नर्म-दलीय लोग निःसहाय से हो रहे थे क्योंकि उनमें लड़ने की शक्ति न थी। किन्तु वहाँ के फ्रांसिस डीक नामक एक केथलिक भूमिपति ने लोगों को अन्याय न सहने और उसका अहिंसक प्रतिकार करने के लिए आवाहन किया। उसने हंगरी द्वारा अपने स्वतन्त्र शिक्षण, कृषि और उद्योग-धंधे चालू करने, आस्ट्रियन सरकार को मानने से, हर प्रकार से इनकार करने और आस्ट्रियन वस्तुओं के वहिष्कार करने की योजना प्रारम्भ की। उसने लोगों को सावधान किया कि वे किसी भी प्रकार बल-प्रयोग या हिंसा न करें, न कानून के दायरे को छोड़ें।

सारे हंगरी में लोगों ने उसकी सलाह पर अमल किया। जब आस्ट्रिया के कर वसूल करने वाले कर्मचारी आये तो उन्होंने न उनको मारा और न चिढ़ाया। उन्होंने केवल यह किया कि टैक्स नहीं दिया। इस पर आस्ट्रियन पुलिस ने उनका सामान छीन लिया, किन्तु पुलिस को हङ्गरी में कोई ऐसा भी आदमी न मिला जो उस सामान को नीलाम करदे। जब इस काम के लिए आस्ट्रिया से आदमी लाया गया तो हंगरी में कोई बोली बोलने वाला भी न मिला। उसके लिए अस्ट्रिया के ही आदमियों की जरूरत हुई। सरकार को शीघ्र ही अनुभव हुआ कि माल की कुर्की और नीलाम में ही टैक्स की रकम से

ज्यादा खर्च पड़ जाता है। इधर, हंगरी वालों ने आस्ट्रिया के माल का वहिष्कार कर दिया, आस्ट्रियन सरकार ने उनके इस काम को गैर-कानूनी घोषित किया, पर इसका असर न हुआ। आदमी कानून भंग करते रहे। जेलें ठसाठस भर गयीं। अब आस्ट्रिया ने मेल की नीति का अमल शुरू किया। कैदी छोड़ दिये गये और आंशिक स्वशासन दिया गया। किन्तु हंगरी ने अपने सम्पूर्ण अधिकारों की मांग की। इस पर सम्राट् ने अनिवार्य सैनिक भर्ती का आदेश जारी किया। हंगरी वालों ने इसे अमान्य किया। आखिर १८ फरवरी १८६७ को सम्राट् झुक गया और उसने हंगरी को उसका अलग शासन-विधान प्रदान किया।

श्री ग्रेग ने लिखा है—'इस लड़ाई में थोड़ी सी त्रुटि थी; क्योंकि हंगेरियनों के हृदय में हिंसा का कुछ भाव था। फिर भी अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति का यह अच्छा उदाहरण है, चाहे अहिंसा को समझने और प्रयोग करने में अपूर्णता रही हो।'

भारत में विजौलिया का सत्याग्रह—इस तरह के बहुत से उदाहरण देने का यहाँ स्थान नहीं है। गाँधी जी द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों का उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ हम केवल विजौलिया (मेवाड़) के सत्याग्रह की ही बात कहेंगे, जो भारत के देशी राज्यों और खासकर राजस्थान के जन-जागरण में अपना विशेष स्थान रखता है। यद्यपि इतिहास-पुस्तकों में इसकी चर्चा बहुत कम होने से लोगों को इसकी जानकारी प्रायः नहीं ही है, यह इस युग की सम्भवतः पहली महत्वपूर्ण शान्तिमय लड़ाई है। इसका नेतृत्व श्री विजयसिंह 'पथिक' ने किया था।

सन् १९१६-१७ में विजौलिया की जमीन की पैदावार में से ठिकाने वालों की मांग बहुत अधिक होने के कारण लोगों ने जमीन पड़ती रखने का विचार किया। इस विषय में विजौलिया पट्टे के कुछ पंचों ने

श्री 'पथिक' जी की सलाह ली। जमीन पड़ती रखने में ठिकाने और प्रजा दोनों की हानि को ध्यान में रख कर पथिक जी ने उन्हें वैध उपायों से काम लेने का परामर्श दिया। अब लोगों ने काफी प्रमाणों के साथ एक दरखास्त राज्य के महकमा-खास में दी और गैर-कानूनी बेगार व लागतें देना बन्द कर दिया, इस पर ठिकाने ने भयंकर दमन किया। सैकड़ों किसान पीटे गये, काठ (खोडे) में दिये गये, बिना खुराक और कपड़े दिये सात-आठ माह कैद में रखे गये। तो भी आदमी शान्त रहे और अपनी शिकायतें राज्य-सरकार में पहुँचाते रहे। इसके बाद बिजौलिया के अधिकारियों ने जनता की रक्षा न करने और चोरी आदि की रिपोर्ट न लेने का ढंग इख्तियार किया। कई गाँव लुटे, चोरियों की संख्या बढ़ गयी। तब लोगों को अपनी रक्षा के लिए स्वयं पहरे का प्रबन्ध करना पड़ा। श्री पथिक जी ने उन्हें ग्राम-पंचायतों द्वारा जुर्मों की संख्या रोकने, आपसी झगड़े न बढ़ने देने, शिक्षा-प्रचार करने, मादक द्रव्य, मांस, विदेशी वस्त्र और अपव्यय रोकने की सलाह दी। लोगों ने क्रमशः इस पर अमल किया और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त की।

बिजौलिया की इस प्रगति की गांधी जी ने अपने सिक्रेटरी श्री महादेव देसाई के द्वारा जांच करायी थी। जब उन्हें मालूम हुआ कि किसानों के कष्टों की बात सच है और उनका आन्दोलन सत्याग्रह के नियमों के अनुसार है तो उन्होंने इस आन्दोलन का समर्थन किया और तत्कालीन दीवान श्री रमाकान्त मालवीय को पत्र लिखवाया।

यह आन्दोलन चार साल तक चला। महिलाओं ने भी इसमें काफी भाग लिया। अधिकारियों ने दमन-चक्र चलाने में कुछ कमी न की। आखिर उन्हें झुकना पड़ा। सन् १९२२ में बिजौलिया के जागीरदारों को किसानों से समझौता करना पड़ा; बेगार और बेजा लागतें उठानी पड़ीं, किसानों की पंचायतें स्वीकार करनी पड़ीं और उन्हें किसानों के मामले तय करने का अधिकार देना पड़ा। जमीन का लगान कायम

करने के लिए स्थायी बन्दोबस्त करने की बात तय हुई। आन्दोलन के समय रचनात्मक कार्य करने से किसानों के सामाजिक, आर्थिक आदि विविध क्षेत्रों में जो स्वावलम्बन की भावना पैदा हुई, वह रही अलग।

बिजोलिया का यह सत्याग्रह भारत के देशी राज्यों के अहिंसक आन्दोलनों का अग्रदूत है। इसके बाद -जगह-जगह संगठन कायम हुए, और बेगार और अनुचित लागतों के खिलाफ़ आन्दोलन हुआ।

गांधी जी द्वारा अहिंसात्मक प्रतिरोध—अहिंसात्मक प्रतिरोधों की ओर जनता का विशेष ध्यान आकर्षित कराने का मुख्य श्रेय गांधी जी को है; उन्होंने गम्भीरता पूर्वक इस समस्या पर चिन्तन-मनन किया; जैसे-कुछ साथी और साधन उन्हें मिल सकें उनके ही बल पर उन्होंने इसके प्रयोग किये। उनके प्रयोगों में जो सफलता मिली, वह अनेक लोगों के लिए आश्चर्यजनक रही और उन्हें इसमें बहुत सम्भावनाएँ प्रतीत हुईं। इससे विविध देशों का इस ओर आकर्षण बढ़ा।

दक्षिण अफ्रीका में—गांधी जी का, राजनैतिक बुराइयों को दूर करने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का प्रयोग पहले दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ। यह आठ वर्ष तक था। वहाँ सन् १६०६ में ट्रांसवाल की सरकार ने विधान-सभा में ऐसे कानून का मसविदा पेश किया था जिसके द्वारा भारतीयों से, जरायम-पेशा लोगों की तरह अंगूठों के निशान लगवा कर उनकी रजिस्टरी होती, और यदि कोई भारतीय रजिस्टरी न कराता तो उसका वहाँ से निर्वासन किया जाता, और यदि कोई भारतीय वहाँ के पुलिस अधिकारी को रजिस्टरी की सनद नहीं दिखा सकता तो उस पर जुर्माना होता। गांधी जी के नेतृत्व में पहले वहाँ इसके विरोध में सभाएँ हुईं, सरकार से उपयुक्त कानून न बनाने का निवेदन किया गया; पर सरकार ने भारतीयों की मांग स्वीकार न की और वह कानून बना डाला। इसपर सविनय कानून-भंग हुआ। गांधी जी तथा दूसरे कितने ही आदमी जेल गये। तब

प्रधान मंत्री जनरल स्मट्स ने कहा कि यदि भारतीय स्वेच्छा से रजिस्टरी करा लेंगे तो कानून रद्द करा दिया जायगा। परन्तु भारतीयों के इस समझौते का पालन कर देने पर उन्होंने अपना वादा पूरा न किया तथा कई अन्य अनुचित बातें होने दीं। ट्रांसवाल की सर्वोच्च अदालत के एक यूरोपीय जज ने तो एक ऐसा अदालती फैसला भी कर डाला जिसके अनुसार समस्त हिन्दू और मुस्लिम विवाह नाजायेज हो गये और इस प्रकार सब हिन्दुस्तानी बालक अवैध माने जाकर सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित करार दिये गये। अस्तु, भारतीयों ने फिर अहिंसात्मक आन्दोलन आरम्भ किया। महिलाओं ने भी इसमें खूब भाग लिया। कैद, जुर्माना, मारपीट तथा अन्य ज्यादतियाँ हुई, पर आन्दोलन चलता रहा और अहिंसक बना रहा। जनरल स्मट्स ने कूटनीति का सहारा लिया पर आखिर उन्होंने झुक जाना जरूरी समझा; भारतीयों की बड़ी-बड़ी मांगें मंजूर की गयीं—रजिस्टरी-कानून का रद्द होना, तीन पौंड प्रति व्यक्ति कर का हटाया जाना, भारतीय विवाहों का जायज होना आदि।

यह ठीक है, दक्षिण अफ्रीका में अब भी वर्ण-विद्वेष बहुत है। गौरांग लोगों से प्रभावित सरकार कई तरह के अन्याय करती है, तथापि उसे इसके लिए सब विचारशीलों का और स्वयं यूरोप और अमरीका के भी अनेक सज्जनों का विरोध सहना पड़ रहा है। यह निश्चित है, जागृत लोकमत का कोई भी सरकार बहुत समय तक सामना नहीं कर सकती। अस्तु, गांधी जी ने अधिकार-मद से उन्मत्त सरकार को होश में लाने में तथा दूसरों का पथ प्रदर्शन करने में जितनी भी सफलता प्राप्त की है, वह अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं है।

भारत में; चम्पारण का सत्याग्रह—इसके बाद भारत में तो गांधी जी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध के कई प्रयोग कर दिखाये। उदाहरण के लिए सन् १९१७ के चम्पारण (बिहार) के प्रयोग की

बात लें। इसका उद्देश्य आर्थिक था। चम्पारण जिले में किसानों को अपनी जमीन के १५ प्रतिशत भाग में नील की खेती, गोरे मालिकों के लिए जबरन करनी पड़ती थी। उन्हें कई अनुचित लागें भी देनी होती थीं। जब गांधीजी से इस विषय में कहा गया तो इन्होंने इसकी प्रामाणिक जांच करने का विचार किया। इनकी जांच की कार्रवाई से निलहे गोरों का नाराज होना स्वाभाविक था। उन्होंने मेजिस्ट्रेट से गांधी जी के नाम नोटिस जारी करा दिया कि तुरन्त जिले से बाहर चले जाओ। पर इससे गांधी जी डरने या घबराने वाले न थे। इन्होंने अपने कर्तव्य पर डटे रहने की, और यदि आवश्यक हो तो इसके लिए सरकारी आज्ञा के भंग करने के दंड को सहर्ष सहने की, अपनी पूरी तैयारी सूचित करदी। अस्तु, इन्होंने जाँच का काम जारी रखा। जाँच गुप्त रूप से नहीं, खुले आम होती थी। ठीक और सही बात जानने के लिए गवाहों से सवाल भी किये जाते थे। कार्रवाई के समय सरकार द्वारा भेजे हुए पुलिस-अफसर भी मौजूद रहते थे, जो वहाँ होने वाले कार्य के नोट लेते रहते थे। गांधीजी पर मुकदमा चला तो इन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरे सामने दो विकल्प हैं—मैं कानून मान कर यहाँ से चला जाऊँ या अपने हृदय की प्रेरणा और सेवाधर्म को मानूँ। मैंने दूसरा विकल्प स्वीकार किया है, जब तक सरकार मुझे यहाँ से हटा न दे।

अदालती फैसला होने से पूर्व ही प्रान्त के शासक ने आज्ञा दी कि गांधी जी को जांच जारी रखने की इजाजत दी जाय। पीछे तो एक सरकारी जांच कमीशन ही नियुक्त कर दिया गया, जिसके एक सदस्य गांधी जी भी बनाये गये। कमीशन की सर्वसम्मति से यह रिपोर्ट रही कि किसानों से जबरन नील की खेती कराना अन्यायपूर्ण है, तथा बड़े जमींदारों की लागें भी अनुचित हैं। इस पर कानून का संशोधन हुआ, इससे गांधी जी की ख्याति बढ़ना स्वाभाविक ही था। पर हमें यहाँ यह कहना है कि लोगों की सत्याग्रह के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी, जो सामाजिक जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है।

वायकोम का सत्याग्रह—इसके बाद गांधी जी ने, जो अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रमुख सूत्र-संचालक हो गये थे, सामूहिक सत्याग्रह के अन्य कई प्रयोग किये। त्रावणकोर राज्य के वायकोम ग्राम में मंदिर के पास से जाती हुई सड़क पर हरिजनों को नहीं जाने दिया जाता था। यहाँ पर सत्याग्रह गांधी जी के परामर्श से हुआ, पीछे गांधी जी स्वयं भी वहाँ पहुँचे। हरिजनों के साथ सत्याग्रहियों ने इस अवसर पर तरह-तरह के कष्ट सहे, गिरफ्तारियाँ हुईं, पर सेवकों का तांता लगा रहा। आखिर, सुधारकों के कष्ट-सहन और अहिंसा ने ब्राह्मणों को झुका दिया। सोलह महीने बाद सन् १९२५ में उन्होंने उक्त सड़क पर हरिजनों को जाने-आने की अनुमति प्रदान की। इस प्रकार सामाजिक न्याय की प्राप्ति में सफलता मिली।

बारडोली सत्याग्रह—बारडोली का सत्याग्रह (सन् १९२८) तो प्रसिद्ध ही है। बारडोली बम्बई प्रान्त का एक ताल्लुका है। यहाँ किसानों पर लगान बहुत बढ़ा दिया गया था। उनकी प्रार्थना पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया। इस पर किसानों ने सरकार को सूचना देकर लगान देना बन्द कर दिया। इस आन्दोलन का नेतृत्व, गांधी जी की सलाह से श्री वल्लभभाई पटेल ने किया। सरकार ने तरह-तरह की नीति-अनीति कहना चाहिए—से काम लिया। किसानों को कर देने के लिए तैयार करने के वास्ते, उनमें से कुछ को प्रलोभन दिया, कुछ को जुर्माना किया, कहीं कोड़ों और सजाओं से काम लिया, फूट डालने के भी प्रयत्न किये, बहुत-सों की जमीन तथा सामान ही नीलाम किया गया। पर प्रायः किसानों ने दृढ़ता-पूर्वक अहिंसक बने रह कर अपना कर्तव्य पालन किया, और सरकार की चालें न चलने दीं। ज्यों-ज्यों इस आन्दोलन का समाचार-पत्रों और ट्रेक्टों या पत्रकों द्वारा प्रकाशन हुआ, देश भर की सहानुभूति बारडोली के किसानों की ओर बढ़ती गयी। प्रान्तीय विधान सभा में इस विषय पर खूब बहस

हुई और कई सदस्यों ने सरकारी नीति के विरोध में इस्तीफा दिया। ब्रिटिश पार्लिमेंट ने भी इस विषय पर विचार किया। आखिर, साढ़े पांच महीने बाद सरकार को किसानों की लगभग सभी मांगें मंजूर करनी पड़ीं।

अन्य सत्याग्रह—गांधी जी के आदेश या स्वीकृति के अनुसार संगठित अहिंसात्मक प्रतिरोध के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं—अहमदाबाद की मिल-मजदूर हड़ताल (१६१७), खेड़ा का कर सम्बंधी सत्याग्रह (१६१६-१७), बोरसद का कर सम्बंधी सत्याग्रह (१६२३), नागपुर का राष्ट्रीय झंडा सत्याग्रह आदि। १६२१-२२ के अखिल भारतीय असहयोग आन्दोलन की विशेपता, उसकी गहराई में न नाप कर उसके विस्तार में समझनी चाहिए। इतने बड़े आकार, और इतनी बड़ी जनसंख्या में आजादी हासिल करने की भावना गांव-गांव और घर-घर में पहुँचाने की बात कुछ मामूली नहीं है। सन् १६३० का नमक सत्याग्रह अपने ढंग की संसार की एक अद्भुत् घटना है। इसका आरम्भ में तो बहुत मजाक ही उड़ाया गया। पर यह पीछे विदेशी पत्रकारों तक का ध्यान आकर्षित करने वाला तथा उनकी सहानुभूति प्राप्त करने वाला रहा। इस आन्दोलन के सिलसिले में कई प्रकार के अनुचित कानून तोड़े गये। कहीं जंगल सत्याग्रह, कहीं जप्त पुस्तकों की बिक्री, कहीं मादक द्रव्य पर और कहीं अंग्रेजी माल पर पिकेटिंग (धरना देना) करके आदमी जेल जाते रहे। महिलाओं ने भी खूब भाग लिया। बालकों की वानर-सेनाएँ बनीं। कुल मिला कर लगभग एक लाख आदमी जेल गये। आखिर, सरकार और कांग्रेस में समझौता हुआ।

भारत का स्वाधीनता-आन्दोलन और अहिंसा—गांधी जी द्वारा या उनके परामर्श आदि से संचालित उपर्युक्त सब आन्दोलन, कुछ अलग-अलग बिखरी हुई घटनाओं के रूप में भी, अपना महत्व रखते हैं, पर ये वास्तव में देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक

—सभी प्रकार के स्वाधीनता-आन्दोलन रूपी शृङ्खला की कड़ी हैं। क्योंकि आजकल राजनीति का राष्ट्रीय जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव रहता है, इसलिए उस ओर जनता का ध्यान स्वभावतः अधिक रहा। भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का इतिहास तो यहाँ संक्षेप में भी नहीं दिया जा सकता। हमें इतना ही कहना है कि भारत ने जो स्वाधीनता प्राप्त की, उसमें यद्यपि अन्य सहायक कारणों के होने से इनकार नहीं किया जा सकता, उसमें अहिंसा का यथेष्ठ भाग मानना ही होगा। गांधी जी ने भारतवासियों की, अँग्रेजों से घोर यातनाएँ मिलने पर भी, हिंसा की प्रवृत्ति उभरने न दी, उसे बराबर नियंत्रित किया। गांधी जी का लक्ष्य यहाँ से अँग्रेजों को हटाना न होकर अँग्रेजियत को, उनके शासन को हटाना था। इसलिए भारत का अँग्रेजों के प्रति दुर्भाव न हुआ, स्वाधीन होने पर भारत और इंगलैंड का सम्बन्ध बना रहा, एक-दूसरे के सहयोग का इच्छुक रहा। यह अहिंसा का ही चमत्कार है।

विशेष वक्तव्य—जैसा कि इस अध्याय के शीर्षक से स्पष्ट है यहाँ अहिंसात्मक प्रतिरोध के कुछ उदाहरण मात्र दिये गये हैं, तथापि मानव विकास के इतिहास में इनका यथेष्ट महत्व है। घोर अत्याचारों का जवाब खून-खराबी से न देकर तथा समस्या को और अधिक जटिल न बना कर शान्ति-पूर्वक समस्या हल करने की बात कुछ ऐसी-वैसी नहीं है। इसमें मानव भविष्य के उज्ज्वल होने का निश्चित सन्देश है।

बारहवाँ अध्याय

अहिंसात्मक प्रतिरोध की विशेषता

अहिंसा तीन-चतुर्थांश अप्रकट रहती है और जिस मात्रा में वह अप्रकट रहती है, उसी मात्रा में प्रभावशाली भी होती है। जब अहिंसा सक्रिय होती है, तो वह असाधारण वेग से आगे बढ़ती है और फिर वह चमत्कार का रूप ले लेती है। इस तरह लोक-मानस पर पहले अप्रकट रूप से परिणाम होता है और बाद में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है।

—गांधी जी

पिछले अध्याय में अहिंसात्मक प्रतिरोधों के उदाहरण देकर अब हमें यह विचार करना है कि अहिंसा की शक्ति अपना महान कार्य किस प्रकार करती है, और कैसे हिंसा का मुकाबला करके उसकी क्रूरता मिटाने में सहायक होती है। इस प्रकार हम देखेंगे कि अहिंसात्मक प्रतिरोध की, अपने विरोधी की अपेक्षा क्या विशेषता है।

अहिंसा का कार्य मौन परन्तु बहुत प्रभावशाली होता है—हिंसा के पास काम करने के लिए स्थूल शस्त्रास्त्र होते हैं, पर अहिंसा अपने पास ऐसे साधन नहीं रखती। वह अपना काम धूमधाम और कोलाहल से नहीं करती। वह तो शान्त और चुपचाप रह कर ही काम करती है। दूसरों को प्रायः पता भी नहीं लगता कि कुछ काम हो रहा है। तो भी, चाहे यह बात बहुतों को आश्चर्य-जनक प्रतीत हो, अहिंसा अपना काम करती रहती है, और उसका काम विलक्षण होता है। गांधी जी ने कहा है, 'हिंसा का प्रयोग लोगों को वाह्य प्रतीकों द्वारा सिखाया जा सकता है। पहले तख्तों पर निशान लगाया जाता है। फिर

लक्ष्य पर, और बाद में जानवरों पर। तब विनाश की कला में निष्णात होने का प्रमाण-पत्र आपको दिया जाता है।

'अहिंसक मनुष्य के पास कोई बाह्य साधन नहीं होता और इसलिए उसकी वाणी ही नहीं, बल्कि उसकी कृति भी प्रभावहीन मालूम होती है।' मैं तुमसे सब तरह की मीठी बातें कहता रहूँ, तो भी मेरे मन में कुछ और हो सकता है। इसके विपरीत, मेरे मन में वास्तविक प्रेम होने पर भी ऊपर से मेरा मन सारा रंग-रूप भयंकर हो सकता है। या दोनों स्थितियों में बाहर से मेरा आचरण एक-ही-सा हो सकता है लेकिन नतीजा शायद कुछ और ही हो। क्योंकि प्रायः हमारी कृति का प्रभाव तब अधिक होता है, जब कि कृति स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होती।

'अनजान में आप सब इस वक्त मुझ पर जो असर डाल रहे होंगे, उसका शायद मुझे कभी पता भी न चले। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आप जान-बूझ कर मुझ पर असर डालेंगे, उससे वह असर कहीं अधिक होगा।'

अहिंसा का विरोधी पक्ष पर कैसे प्रभाव पड़ता है?— जब किसी हिंसक व्यक्ति का अहिंसक से विरोध होता है तो उसके मन पर तथा अन्य जनता पर उसका कैसा प्रभाव पड़ता है, और कैसे क्रमशः ऐसा वातावरण बनता है कि अन्त में आक्रमक का हृदय-परिवर्तन होता है, उसे अपना विरोध हटाना और अपने अहिंसक प्रतिरोधी से प्रेम-पूर्ण समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ता है—इस विषय पर श्री रिचर्ड बी० ग्रेग ने अपनी पुस्तक* में सुन्दर प्रकाश डाला है। आगे हम उसकी कुछ विचारणीय बातें संक्षेप में रख रहे हैं।

आक्रमक को आश्चर्य; आत्म-विश्वास का ह्रास— पहले कल्पना करो कि आक्रमक किसी ऐसे व्यक्ति को मारता है जो

---

* अहिंसा की शक्ति।

भय या क्रोध करके बदले में प्रहार करता है। ऐसी दशा में आक्रमक समझता है कि मेरी नीति ठीक है, क्योंकि आक्रान्ता भी उसी नीति का अनुकरण का कर रहा है। अपनी नीति में इस प्रकार विश्वास्त रहने के कारण उसका साहस बना रहता है और वह अपना हिंसक कार्य अधिकाधिक बल-पूर्वक करता रहता है, इसमें उसको सफलता मिलने की आशा रहती है। अब एक दूसरा उदाहरण लें। आक्रमक के हिंसात्मक प्रयोग करने पर आक्रान्त डरता नहीं, क्रोध नहीं करता, प्रत्याक्रमण नहीं करता, प्रसन्न रहता है, झगड़े की जाँच के लिए और सत्य बात मानने के लिए तैयार है। आक्रमक का विरोध केवल नैतिक रूप में करता है, अहिंसात्मक प्रतिरोध करता है। ऐसी दशा में आक्रमक को आश्चर्य हुए बिना न रहेगा, क्योंकि इन बातों की उसे आशा न थी। अब वह हक्का-बक्का रह जाता है, यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्या करना चाहिए। उसका प्रहार करने का नैतिक आधार चला जाता है। वह आत्म-विश्वास खो बैठता है। इसके विपरीत, आक्रान्त अधिकाधिक कष्ट सहने के लिए तैयार रहता है, वह आक्रमक को आक्रमण के लिए निमंत्रण देता है। उसे अपनी नीति में विश्वास है, वह अहिंसा-मार्ग की श्रेष्ठता समझता है, और अपना नैतिक संतुलन बनाये रखता है।

आक्रमक के मन में अन्तर्द्वन्द—अहिंसक प्रतिरोधी के दृढ़ता-पूर्ण उदार व्यवहार से आक्रान्त के मन में क्रमशः उच्च और कृपा-पूर्ण भावनाएँ जाग्रत होती हैं और उसकी हिंसात्मक भावनाओं से लड़ने लगती हैं। इस प्रकार उसके मन में दो परस्पर विरोधी भाग हो जाते हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोधी की बातों का परिणाम शायद शीघ्र ही न हो, किन्तु उनके बार-बार दोहराने से परिणाम उतना ही निश्चयात्मक होता है, जिस प्रकार व्यापारिक विज्ञापनों के बार-बार दोहराने से हुआ करता है। अस्तु आक्रमक को थोड़े-बहुत समय में यह अनुभव होने ही लगता है कि मैंने भूल की कि विरोधी को कायर समझा; उसे चिन्ता होने लगती है कि अब हिंसात्मक व्यवहार करके कहीं और भूल न कर

बैठूँ। उसके मन में अपनी नीति के विषय में शंका हो जाती है। इस अन्तर्द्वन्द के कारण वह अपने हिंसक कार्यक्रम को समेटने की बात सोचने लगता है।

आक्रमक कमजोर पड़ता जाता है—इसके साथ एक बात और होती है। प्रत्येक व्यक्ति या समूह की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि मैं अपने से सम्बंधित दुनिया में अच्छा, होशियार, शक्तिमान समझा जाऊँ। इधर आक्रमक यह अनुभव करने लगता है कि कुछ लोगों ने मेरी भूल देखली है, कुछ ने उसका समाचार पढ़ लिया है और कुछ ने उसकी बात सुनली है, और जगह-जगह मेरी प्रतिष्ठा घट रही है। लोकमत मेरे साथ नहीं है—उस व्यक्ति या समूह को कौन अच्छा कहेगा, जो शान्त स्वभाव और निहत्थे व्यक्ति पर आक्रमण करे। अस्तु, अब आक्रमक को यह भान होने लगता है कि शारीरिक या पाशविक शक्ति से भिन्न और इससे बढ़ कर भी कोई शक्ति है, और वह है आत्म-शक्ति। हिंसा-मार्ग निम्नकोटि का है, अहिंसा का पथ ही श्रेष्ट और मनुष्योचित है। आक्रमक को अपनी नीति में आस्था नहीं रहती, इस प्रकार वह शारीरिक थकान के साथ मानसिक परेशानी अनुभव करता है, और अधिकाधिक कमजोर पड़ता जाता है।

अहिंसक प्रतिरोधी की बल-वृद्धि—इसके विपरीत, अहिंसक प्रतिरोधी की स्थिति कई कारणों से मजबूत होती है।

(१) उसकी कार्यपद्धति का आधार प्रारम्भ से ही नैतिक होता है, जो आक्रमक को चकित करता है।

(२) वह आश्चर्य की स्थिति में नहीं होता। वह कष्ट उठाने या जो भी परिणाम हो, उसके लिए सहर्ष तैयार रहता है।

(३) वह आत्म-संयम और क्रोधाभाव के कारण अपनी शक्ति को सुरक्षित रखता है। वह थकता या घबराता नहीं।

(४) उसे अपने कार्यक्रम में श्रद्धा और विश्वास होता है, वह

निरंतर यह अनुभव करता है कि वह एक शुभ कार्य में लगा है, उसका शरीर, मन, इच्छा, शक्ति और आत्मा सब एक सूत्र में ग्रथित होकर एक ही उद्देश्य के लिए काम कर रहे हैं।

पराजय का प्रश्न ही नहीं—इस प्रकार जब हिंसा का प्रतिरोध अहिंसात्मक पद्धति से होता है तो हिंसक शक्ति क्रमशः परन्तु निश्चित रूप से कम होने वाली ठहरी; लोकमत उसके विरुद्ध बढ़ने ही वाला है। दूसरी ओर, अहिंसक शक्ति को अपनी अन्तिम विजय में दृढ़ विश्वास बना रहता है। कष्ट भोगने और मृत्यु में भी अहिंसक प्रतिरोधी अपनी सफलता और विजय मानता है, कारण, उसका कार्य प्रत्येक दशा में मानवता का मान बढ़ाने वाला होता है। वह निष्ठा-पूर्वक अपना कर्तव्य-पालन करता है, उसी के लिए जीता है, और आवश्यकता होने पर उसी के लिए प्राणोत्सर्ग करता है। अस्तु, अहिंसात्मक प्रतिरोध में विफलता या पराजय का प्रश्न ही नहीं; दूसरों की दृष्टि में वह घाटे या नुकसान का काम मालूम होने पर भी उसमें तो वास्तव में सफलता और विजय ही है।

विरोधी की भी पराजय नहीं; हृदय-परिवर्तन—अहिंसात्मक प्रतिरोध की विशेषता यह है कि इसमें आक्रान्त यह नहीं चाहता कि आक्रमणकारी की पराजय हो, उसको नीचा दिखाया जाय, उसको कष्ट पहुँचाया जाय। अहिंसक प्रतिरोधी की आकांक्षा यही होती है कि वह अपने सद्व्यहार, सत्य-निष्ठा, कष्ट-सहन और प्रेम-भाव से अपने विपक्षी के हृदय पर ऐसा प्रभाव डाले कि उसमें उच्च भावनाएँ जाग्रत हों, उसका हृदय-परिवर्तन हो। इसके सम्बन्ध में श्री ग्रेग ने लिखा है—

'इसमें संदेह नहीं कि जब एक व्यक्ति स्वेच्छा पूर्वक किसी एक विश्वास या आदर्श के लिए कष्ट सहन कर रहा हो, तो उस दृश्य से आक्रमणकारी और दर्शकों का हृदय द्रवित हो जाता है, उनके हृदयों

का परिवर्तन होने लगता है और उस व्यक्ति के साथ बन्धुत्व भावना उत्पन्न होने लगती है।

'अहिंसात्मक प्रतिरोध एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा एक के विचार और अनुभूतियाँ दूसरे के भीतर संचारित हो जाती हैं, वाणी की और शरीर की भावभंगी से तथा दीर्घकालीन परिस्थितियों में लेखों और पत्र-व्यवहार से भी, और जहाँ शब्दों की सम्भावना नहीं है वहाँ अपने आचरण-मात्र से ही विचार और अनुभूतियाँ दूसरे तक पहुँच जाती हैं।

'पूर्ण स्वरूप में अहिंसात्मक प्रतिरोध मानव समाज की एकता या विश्व-बन्धुत्व के विचार का एक नाटक या अभिनय है। इसलिए सच्ची भावना से खेले हुए नाटक की भाँति इसका भी प्रभाव विरोधी के मन और हृदय पर अवश्य पड़ता है। इससे मनुष्य की आत्मिक शक्ति का और कष्टों और आपत्तियों पर विजयी होने की उसकी क्षमता का प्रदर्शन हो जाता है।'

अहिंसक प्रतिरोधी के आवश्यक गुण—इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि अहिंसक प्रतिरोधी की सफलता और विजय के लिए यह आवश्यक है कि उसके चरित्र या स्वभाव में प्रेम, आत्म-विश्वास, श्रद्धा, साहस, त्याग, सच्चाई, नम्रता, आत्म-निग्रह अपरिग्रह आदि विविध नैतिक गुण होने ही चाहिएँ। तभी वह आक्रमणकारी से अधिक प्रयल हो सकता है। सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध का नेतृत्व करने वाले में तो ये गुण असाधारण रूप से उन्नत होने चाहिएँ, क्योंकि उसका प्रभाव उसके सब साथी कार्यकर्ताओं पर विशेष रूप से पड़ने वाला है।

अहिंसक प्रतिरोधी को शान्ति-सैनिक कहा जा सकता है, और शांति-सैनिकों के विषय में गाँधी जी ने इस आशय के विचार प्रगट किये थे कि 'इन में मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्योछावर कर सकें। यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों, अंधों, लंगड़ों और

रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इससे स्पष्ट है कि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकती है। इस सेना को अस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम में डाल कर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसी को भी शत्रु नहीं मानता। जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए भी उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढ़े और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहाँ तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिए। अनेक बार ऐसा प्रसंग आ सकता है कि उन्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, वर्षा, मार-पीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उनमें यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग, बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई दंगे के बीच में पड़कर लड़ने वालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।'*

अहिंसक प्रतिरोधियों के लिए नियम—अहिंसक प्रतिरोधी सत्याग्रही होते हैं। और सत्याग्रहियों के लिए गांधी जी के बताये, कुछ नियम ये हैं—

१—सत्याग्रहियों में सामान्य ईमानदारी अवश्य होनी चाहिए।

२—उन्हें अपने सेनापति के आदेशों का दिल से पालन करना चाहिए। कोई बात मन में छिपा कर नहीं रखनी चाहिए।

३—उन्हें न सिर्फ अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न केवल अपनी सम्पत्ति, जमीन, नगद पैसा वगैरा ही, बल्कि अपने घर वालों की आजादी और सम्पत्ति—सब कुछ खोने को तैयार रहना चाहिए; और

* इस विषय का लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४२ के अंक में छपा था।

गोलियों, संगीनों या उत्पीड़न द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु तक का प्रसन्नता-पूर्वक सामना करने की उनकी तैयारी रहनी चाहिए।

४—उन्हें 'शत्रु' के प्रति या आपस में मन, वचन या कर्म से कोई हिंसा का भाव नहीं रखना चाहिए।*

कुछ अन्य आवश्यक बातें—अहिंसा के सम्बन्ध में गांधी जी की बतायी नीचे लिखी बातें भी ध्यान में रखनी चाहिए—

"१—अहिंसा परम श्रेष्ठ मानव धर्म है; पशु-बल से वह अनन्त गुना महान और उच्च है।

२—अन्ततोगत्वा वह उन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती जिनकी उस प्रेम रूपी परमेश्वर में सजीव श्रद्धा नहीं है।

३—मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सब से बड़ी रक्षक है। हाँ, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति की हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती—हालांकि अगर मनुष्य उसका अच्छा अभ्यास करले तो शस्त्रधारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि अन्याय से अर्जित सम्पत्ति तथा दुराचार की रक्षा में वह जरा भी सहायक नहीं हो सकती।

४—जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा का अवलम्बन करना चाहें, उन्हें आत्म-सम्मान के अतिरिक्त अपना सर्वस्व (राष्ट्रों को तो एक-एक आदमी) गंवाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरे के मुल्कों को हड़पने अर्थात् आधुनिक साम्राज्यवाद से, जो कि अपनी रक्षा के लिए पशु-बल पर निर्भर रहता है, बिल्कुल मेल नहीं खा सकती।

५—अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उनकी उस करुणामय में तथा

* 'सर्वोदय' पुस्तक से

मनुष्य-मात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धान्त बनालें तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त होनी चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

६—यह समझना एक जबरदस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए लाभदायक है, जन समूह के लिए नहीं। जितना वह व्यक्तियों के लिए धर्म है, उतना ही वह राष्ट्रों के लिए भी धर्म है।"*

गांधी जी ने यह भी कहा है—'उदारता तो अहिंसा का अवयव है। उससे रहित अहिंसा अपंग है, इसलिए वह चल ही नहीं सकती।'

'अपूर्ण आत्म-शुद्धि के प्रयत्न में मर मिटना यह अहिंसा की शर्त है।'

हिंसा और अहिंसा के कार्य में भेद—हिंसा और अहिंसा के रास्ते बिलकुल जुदा-जुदा हैं। सूत्र रूप से उनका भेद श्री किशोर-लाल मश्रूवाला के शब्दों में इस प्रकार दिखाया जा सकता है,†

हिंसा	अहिंसा
(१) हिंसा के मूल में प्रतिपक्षी के बल का डर रहता है, और यह अपना हिंसा-बल प्रतिपक्षी की अपेक्षा बढ़ाकर ही, जय की आशा करती है।	अहिंसा का दूसरा नाम निर्भयता कहा जा सकता है। इसका बल प्रतिपक्षी की न्यूनता पर नहीं, अपनी निर्भयता पर है।
(२) हिंसा प्रतिपक्षी में डर पैदा करके उसे अपने वश करने की आशा करती है।	अहिंसा प्रतिपक्षी को अभयदान देकर जीतने की आशा रखती है।

---

* 'हरिजन सेवक', ५-९-२६

† अहिंसा विवेचन [गुजराती]

हिंसा	अहिंसा
(३) भयमूलक होने के कारण हिंसा में कुटिल नीति, असत्य, गुप्तता, छल-प्रपंच आदि का कुछ-न-कुछ आधार लिये बिना काम नहीं चलता। केवल अपना हिंसा-बल अधिक होने से ही जय नहीं मिलेगी, उसके साथ कुटिल नीति में प्राप्त कुशलता पर बहुत आधार रहता है।	अहिंसा में आदमी जितना सरल, सत्य-प्रिय, कुटिल नीति रखने के अयोग्य हो, उतना ही वह युद्ध की योजना अधिक स्पष्ट रूप से कर सकता है। इसके विरोधी की कुटिलता उसी पर भारी पड़ती है, और जैसे जाल में हवा नहीं पकड़ी जा सकती, वैसे ही अहिंसा की सरलता हिंसा की कुटिलता में नहीं फँस सकती।
(४) हिंसा की वीरता साहस-युक्त है, पर भय-मुक्त नहीं। इसमें मरने का डर रहता है, पर जोखम उठाने की तैयारी रहती है। इस प्रकार हिंसा की वीरता आवेश वाली और उत्तेजना पर आधारित है।	अहिंसा की वीरता में आवेश और उत्तेजना से पैदा होने वाला साहस नहीं होता। इसकी वीरता निर्भयता में है। यह दृढ़ता-पूर्वक ठंडे मस्तिष्क से विचार करती है, और आगे बढ़ती है।
(५) हिंसा में जय के लिए कुशल सेनापति की होशियारी अनिवार्य है, इसलिए उसको बचाये रखना आवश्यक माना जाता है। इसमें एक प्राणी के लिए लाखों सैनिकों के प्राण गँवाने पड़ें तो बुरा नहीं माना जाता।	अहिंसा में बहुधा सब के सब मनुष्यों का बलिदान जय दिलाता है। इसका सेनापति अपने प्राणों की इतनी कीमत नहीं आँकता कि उसको बचाने के लिए खटपट की जाय। अहिंसा मानती है कि उसका बलिदान लाखों की रक्षा करने के साथ ही जय को नजदीक लाता है।

हिंसा	अहिंसा
(६) हिंसा में कुशल सेनापति का मरना बड़ी सेना की हार है।	अहिंसा में सेनापति के बलिदान से मानों वह पूरी सेना में व्याप्त हो जाता है।
(७) प्राणों के समान ही धन-सम्पत्ति को दुश्मन के हाथ में न पड़ने देने के लिए अनेक युक्तियाँ रचनी पड़ती हैं।	अहिंसा में सर्वस्व-त्याग को सद्गुण मानने के कारण इसकी रक्षा के लिए युक्ति-रचना को त्याज्य माना जाता है।
(८) हिंसा में जवान और शक्तिशाली ही उपयोगी होते हैं।	अहिंसा में निर्बल, बालक, स्त्री-पुरुष सभी समान उपयोगी होते हैं।

तेरहवाँ अध्याय

अहिंसा का शिक्षण

जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखना जरूरी है, उसी तरह अहिंसा की तालीम में मरना सीखना जरूरी है।

—गांधी जी

जिस प्रकार सैनिक व्यक्तियों या समूहों को शिक्षण देकर तैयार करना पड़ता है, उसी प्रकार अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी व्यक्तियों और समूहों को तैयार करना पड़ता है। कहते हैं कि एक अच्छे सैनिक के निर्माण में चार वर्ष लगते हैं। हमें भी उतना ही समय लगाना चाहिए, उतना ही ध्यान देना चाहिए और अहिंसात्मक प्रतिरोध के उपयुक्त नयी आदतें और नये प्रकार का आत्म-निग्रह उत्पन्न करने के लिए उतनी ही दैनिक कवायद करनी चाहिए, जितनी एक सैनिक अपने लक्ष्य के लिए करता है।

—रिचर्ड बी० ग्रेग

अहिंसा के शिक्षण की आवश्यकता—अभी तक अहिंसा के सम्बन्ध में शोधन, शिक्षण और प्रयोग बहुत कम ही हुए हैं। हिंसा के सम्बन्ध में मनुष्य ने जितना परिश्रम किया और कष्ट उठाया है, उसकी तुलना में अहिंसा की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। तो भी यह बहुत यशस्वी हुई। स्पष्ट है कि अहिंसा का शोधन, शिक्षण, संगठन आदि बढ़ने पर इसकी कल्याणकारी शक्ति और भी अधिक चमत्कार दिखायेगी।

इस विषय में गांधी जी का मत है कि 'अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति भरी हुई है। इसमें जो अमोघ शक्ति है, उसकी अभी पूरी खोज

नहीं हुई है। 'अहिंसा के समीप सारे वैर-द्वेष शान्त हो जाते हैं'—यह सूत्र शास्त्रों का प्रलाप नहीं है, बल्कि ऋषियों का अनुभव-वाक्य है। जाने-अनजाने, प्रकृति की प्रेरणा से, सब प्राणियों ने एक दूसरे के लिए कष्ट उठाने का अर्थ पहचाना है और उसके आचरण द्वारा संसार को निभाया है। तथापि इस शक्ति का संपूर्ण विकास और सब कार्यों और प्रसंगों में इसके प्रयोग के मार्ग का अभिज्ञानपूर्वक शोधन-संगठन नहीं हुआ है। हिंसा के मार्गों के शोधन और संगठन करने का मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है और उसका बहुत अंशों में शास्त्र बना डालने में सफलता पायी है; उतना यदि वह अहिंसा की शक्ति के शोधन और संगठन के लिए करे, तो मनुष्य-जाति के दुःखों के निवारणार्थ यह एक अनमोल, अचूक और परिणाम में उभय पक्ष का कल्याण करने वाला साधन सिद्ध होगा।

'जिस श्रद्धा और उद्योग से वैज्ञानिक प्रकृति की शक्तियों की खोज करते हैं और उसके नियमों को विविध प्रकार से काम में लाने का प्रयत्न करते हैं वैसी ही श्रद्धा और उद्योग से अहिंसा की शक्ति की खोज करने की और उसके नियमों को काम में लाने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।'

अहिंसा और हिंसा की शिक्षा में भेद—अहिंसा की शिक्षा और हिंसा की शिक्षा में जमीन आसमान का अन्तर है। गांधी जी ने कहा है कि 'जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखना जरूरी है, उसी तरह अहिंसा की तालीम में मरना सीखना पड़ता है। हिंसा में भय से मुक्ति नहीं मिलती, किन्तु भय से बचने का इलाज ढूंढने का प्रयत्न रहता है। अहिंसा में भय को स्थान ही नहीं। भयमुक्त होने के लिए अहिंसा के उपासक को उच्च कोटि की त्याग-वृत्ति विकसित करनी चाहिए। जमीन जाय, धन जाय, शरीर भी जाय—इसकी परवा ही न करे। जिसने सब प्रकार के भय को नहीं जीता, वह पूर्ण अहिंसा का

पालन नहीं कर सकता। इसलिए अहिंसा का पुजारी एक ईश्वर का ही भय रखे और दूसरे सब भयों को जीत ले। ईश्वर की शरण ढूँढ़ने वालों की आत्मा शरीर से भिन्न है, यह भान होना चाहिए। और आत्मा का भान होते ही क्षण-भंगुर शरीर का मोह उतर जाता है। इस तरह अहिंसा की तालीम हिंसा की तालीम से एक-दम उलटी होती है। बाहर की रक्षा के लिए हिंसा की जरूरत पड़ती है। आत्मा की, स्वमान की रक्षा के लिए अहिंसा की आवश्यकता है।'*

अहिंसा के शिक्षण में शारीरिक कार्य अनिवार्य— सैनिक शिक्षा से आदमी दूसरों को मारने की 'कला' सीखते है। यह शिक्षा एकदम या बिना प्रयास के नहीं मिल जाती। इस के लिए महीनों और वर्षों का समय लगता है। खूब ड्रिल (कवायद) की जाती है, अनुशासन में रहा जाता है, निशानेबाजी आदि का अभ्यास किया जाता है। हमें जानना चाहिए कि अहिंसा का भी शिक्षण कुछ भाषणों, लेखों या वाद-विवाद के जबानी जमा-खर्च से नहीं हो सकता। इस विषय पर श्री रिचर्ड बी० ग्रेग ने अपनी अंग्रेजी की पुस्तिका† में विस्तार पूर्वक लिखा है। उसके आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि चाहे इस बात पर बहुत से आदमियों को जल्दी विश्वास न हो, विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि सैनिक शिक्षण से मिलने वाले सब लाभ—आज्ञापालन की आदत, आत्म-सम्मान, आत्मा-त्याग, दृढ़ इच्छा-शक्ति, दूसरों के प्रति एकता की भावना, कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति, व्यवस्था और सहयोग की भावना, साहस, दूसरों के साथ समरस होने की प्रवृत्ति आदि—रचनात्मक कार्यों से मिल सकते हैं, जब इन्हें सोच समझ कर, सह-योग-पूर्वक स्वभावतः किया जाता है। इसलिए अहिंसा के शिक्षण में शारीरिक कार्य का महत्व निर्विवाद है।

---

*'हरिजन सेवक' ३१-८-४०

†A Discipline for Nonviolence

शारीरिक कार्य से पारस्परिक एकता—स्पष्ट है कि हमें लोगों के साथ मिलकर और उनके लिए काम करना चाहिए। लोगों को कुछ रुपया दे देना काफी नहीं है। वह हाथ से किये काम की बराबरी नहीं कर सकता। अगर सब प्रकार के आदमी—श्रमजीवी, बेकार, मध्य श्रेणी के, बुद्धिजीवी और धनी—हाथ के श्रम में भाग ले सकें, खासकर जब यह सब के लिए एक ही प्रकार का हो, तो सब को कुछ समय साथ बैठने-उठने से समानता का अनुभव होगा, यह सामान्य प्रजातांत्रिक प्रयत्न का प्रतीक होगा, और यह विविध वर्गों के बीच की खाई को पाटने वाला होगा। यह नेताओं और अनुयाइयों के मिलने में सहायता देगा। हाथ का काम प्रत्येक आदमी कर सकता है। इस-लिए यह काम सब प्रकार के आदमियों को, सारे समुदाय को, यहाँ तक कि सारे राष्ट्र को मिला सकता है।

हाथ के काम को प्रतिदिन दस-बारह आदमियों के समूह में नियमित रूप में करने से एकता की भावना को बढ़ाया जा सकता है, और जब काम हो रहा हो, अहिंसात्मक आन्दोलन सम्बन्धी विविध विषयों की चर्चा की जा सकती है।

सर्वोत्तम शारीरिक कार्य कौनसा?—सामाजिक एकता बढ़ाने वाली सब से अच्छी प्रवृत्ति वही होगी, जिसमें गरीब आदमी भी अपने परिमित साधनों से भाग ले सके, और जिससे उस समूह की आवश्यकता पूरी हो जो समाज में सब से बड़ा हो, और जिसकी बुनियादी जरूरतें—भोजन, वस्त्र या मकान—सब से अधिक हों।

इनमें से खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने का काम वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनको भूमि की सुविधा हो। शहरों में यह काम नहीं हो सकता, गाँवों में भी यह काम साल में कुछ खास महीनों में ही हो सकता है। मकान आदि बनाने के काम में बहुत कुशलता चाहिए और यह कार्य बहुत खर्चीला है, और साथ ही बहुत श्रम-साध्य है। अधिकांश

आदमी अपना घर छोड़कर इसे करने के लिए बाहर जाने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों कार्य अहिंसा के शिक्षण के लिए उपयुक्त नहीं ठहरते।

अब बुनियादी आवश्यकताओं में से केवल कपड़े का ही काम रहता है। इसके लिए कच्चा पदार्थ (कपास) मिल जाने पर उसकी ओटाई, धुनाई और कताई हर जगह आसानी से हो सकती है। कपड़ा गाँव में ही बुना जा सकता है। इन कामों के लिए बड़े खर्चीले साधनों की जरूरत नहीं होती, और पुरुष-स्त्री, निर्बल और बलवान युवक और वृद्ध सभी इनमें भाग ले सकते हैं, यहाँ तक कि बालक-बालिकाएँ भी जल्दी ही इसे सीख सकती हैं। इस प्रकार प्रशिक्षण के लिए कपड़े सम्बन्धी कार्य की श्रेष्ठता स्पष्ट है।

गांधी जी के विचार; रचनात्मक कार्यों का महत्व— गांधी जी शुरू से ही सर्वसाधारण में अहिंसा की भावना बढ़ाने और सत्याग्रह की तैयारी के लिए रचनात्मक कार्यों पर, गरीबों की निस्स्वार्थ सेवा पर बहुत जोर देते रहे। उनके लिए स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन का यह एक आवश्यक कार्यक्रम था। उन्होंने लिखा है—'स्वराज्य जैसे बड़े प्रत्यक्ष अनुभूत न होने वाले प्रश्न के लिए तो अखिल भारतीय महत्व के कार्यों के करने का पूर्व शिक्षण आवश्यक होता है। ऐसे कार्य में जनता और नेताओं का सम्पर्क बढ़ता है और वे साथ मिल कर काम करते हैं। इससे जनता का विश्वास नेताओं पर जम जाता है। निरंतर रचनात्मक कार्य करते समय जो विश्वास उत्पन्न हो जाता है, वह संकट-काल में भारी बल होता है। इसलिए रचनात्मक कार्य का वही महत्व है जो हिंसात्मक युद्ध में कवायद आदि का होता है। जब लोग नेताओं को न जानते हों या उन पर विश्वास न करते हों, या जहाँ जनता तैयार न हो, वहाँ व्यक्तिगत सत्याग्रह करना व्यर्थ है और सामूहिक सत्याग्रह तो असम्भव वस्तु है। इसलिए रचनात्मक

कार्य जितना अधिक किया जायगा, सत्याग्रह की उतनी ही सम्भावना हो जायगी।'

रचनात्मक कार्य, देश-काल के अनुसार जुदा-जुदा स्थानों में, भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। भारत की वर्तमान अवस्था में यहाँ ये कार्य निम्नलिखित माने गये—(१) साम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता-निवारण, (३) जाति-भेद निराकरण, (४) नशा-बन्दी, (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग, (६) गांव-सफाई, (७) नयी तालीम, (८) स्त्री के लिए पुरुषों की बराबरी के हक, और समाज में स्त्री-पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा, (९) आरोग्य और स्वच्छता, (१०) देश की भाषाओं का विकास, (११) प्रान्तीय संकीर्णता का निवारण, (१२) हिन्दुस्तानी का राष्ट्र-भाषा के तौर पर प्रचार, (१३) आर्थिक समानता, (१४) खेती की तरक्की, (१५) मजदूर-संगठन, (१६) आदिम जातियों की सेवा, (१७) विद्यार्थी-संगठन, (१८) कुष्ट रोगियों की सेवा, (१९) संकट निवारण और दुखियों की सेवा, (२०) गो-सेवा, (२१) प्राकृतिक चिकित्सा, और (२२) इसी तरह के अन्य कार्य।

चरखा सब प्रवृत्तियों का मूल—गांधी जी ने खासकर चरखे को अहिंसा की शिक्षा को बहुत जरूरी माना और कार्यकर्ताओं से सूत कातने का दृढ़ आग्रह किया, यहाँ तक कि कांग्रेस की सदस्यता के लिए चरखा कातने और आदतन खादी पहनने की शर्त रखी। भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के आन्दोलन के साथ खादी-उत्पत्ति का कार्य दृढ़ता से चलाया। उन्होंने इसकी महत्ता के सम्बन्ध में बार-बार लिखा और कहा। उदाहरण के लिए उनका एक कथन यह है—

'चरखा वह मध्यवर्ती सूर्य है, जिसके गिर्द सब तारागण घूमते हैं। 'ओक' नाम के वृक्ष का बीज कितना छोटा होता है। लेकिन जहाँ एक बार उसकी जड़ जमी कि उसका विस्तार होता जाता है और वह कितनी ही वनस्पतियों को आश्रय देता है। अगर चरखे की वृत्ति फैल

गयी तो सिर्फ चरखा ही थोड़े रहने वाला है, उसकी छाया में असंख्य उद्योगों को स्थान मिलेगा। उसकी सुगन्ध से सारी दुनिया सुगन्धित हो जायगी। 'यह सच है कि सारी चीजें चरखे से ही निकली हैं। ग्राम-उद्योग-संघ उसी में से निकला है। अस्पृश्यता-निवारण और नयी तालीम उसी के फल हैं। मेरी प्रवृत्तियों की गृहदाता का सूर्य वही है।'*

अहिंसा के शिक्षण के लिए सरकार या संस्थाओं पर निर्भर रहना ठीक नहीं—स्पष्ट है कि सरकार रचनात्मक कामों के लिए चाहे जितनी सहानुभूति दिखाये और सहायता भी दे, वह अहिंसा के शिक्षण कार्य को नहीं कर पायेगी। जिन सरकारों का आधार ही पुलिस, फौज आदि की हिंसक शक्ति है, वे अहिंसा की शिक्षा दें—यह कल्पना करना ही गलत है। अतः उनसे इस विषय की आशा न रखी जाय। यों किसी से कोई सहयोग मिल जाय तो उसका स्वागत है।

यही बात दलों की है, चाहे वे आर्थिक हों या राजनैतिक, वे राष्ट्रीय हों या अन्तर्राष्ट्रीय उनके अपने-अपने स्वार्थ, या गुटबन्दी आदि होती है, अर्थात् वे स्वयं अहिंसा पर आधारित नहीं होते। फिर वे अहिंसा का कार्यक्रम कैसे बढ़ा सकते हैं!

अहिंसा की शिक्षा कौन देगा?—अहिंसा की शिक्षा वही व्यक्ति दे सकेगा जो स्वयं अहिंसा-प्रेमी हो, जिसके मन में अहिंसा-प्रचार की धुन हो, जो इसके लिए बेचैन हो, जिसने इसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है, और जो अपना दैनिक व्यवहार और आचरण अधिक-से-अधिक अहिंसामय रखता हो। श्री कामताप्रसाद जैन के शब्दों में 'अहिंसा की सफलता के लिए, अवश्य ही, हम में से प्रत्येक को कर्मठ बनना है। हम में से प्रत्येक अहिंसा का श्रद्धालु बने।

* गाँधी सेवा संघ सम्मेलन, मालिकान्दा (बंगाल), २१-२-४०

अतः हम में से जो पहले से ही श्रद्धालु हैं, उन्हें कर्मशील होना उचित है। वे अपने दैनिक जीवन-व्यवहार में अहिंसा का आदर्श उपस्थित करके अपने पड़ोसी को प्रभावित करें। उपदेश से दृष्टान्त कार्यकारी होता है। अहिंसा के श्रद्धालुओं में भी साधुओं और त्यागियों का उत्तरदायित्व और भी अधिक है। वे तो अपने को अहिंसा और शान्ति का सिपाही मानें और जीवन के जिस क्षेत्र में उन्हें हिंसामयी विषमता दिखायी दे, उसको मिटाने के लिए होम दें।

विशेष वक्तव्य—अहिंसा के लिए शिक्षण और प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। श्री विनोबा ने कहा है—'बारबार नाकामयाबी मिलते हुए भी लोग हजारों साल से कितनी श्रद्धापूर्वक हिंसा के प्रयोग करते ही चले आ रहे हैं। मैं कहता हूँ, अब इस मूढ़ श्रद्धा को छोड़कर अपने मन में हिंसा के बारे में जरा शंका तो लाइये। इतने रोज हिंसा को 'ट्रायल' दिया, अब अहिंसा को भी तो एक बार 'ट्रायल' दो। फिर, अगर परिणाम नहीं आता तो सोचो कि अहिंसा के प्रयोग में कहाँ कमजोरी रह गयी है। इस तरह अहिंसा के विकास में कुछ समय दिया जाय तो उससे दुनिया का कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। इतना ही होगा कि हजारों साल हिंसा के प्रयोग में दिये तो सौ-पचास साल अहिंसा के भी प्रयोग में दिये। लेकिन ऐसा प्रयोग करने की सोचें तो सम्भव है, उसमें से कुछ ऐसे नतीजे निकलें जिनकी दुनिया को आज अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए दुनिया की आँखें आज इस काम की तरफ लगी हैं। अगर यह प्रयोग सिद्ध हुआ तो दुनिया को एक बड़ी शक्ति और बड़ी राहत भी मिल सकती है। इसलिए इसे 'ट्रायल' देना है। इसके लिए सारे लोग इसमें जुट जायँ, ऐसी आप सब से मेरी मांग है।'*

* 'भूदान-गंगोत्री' से

———

दूसरा खंड

व्यवहार और विकास

जिस तरह पारिवारिक जीवन में अहिंसा का अमल हो सकता है, ठीक उसी तरह से राजनीति में भी हो सकता है। हम बिल्कुल सही तरीके से इसका उपयोग नहीं कर सकेंगे, परन्तु हम निश्चय ही हिंसा के उपयोग को अस्वीकार कर सकते हैं। और इस प्रकार सफलता की ओर बढ़ सकेंगे।

हर कानून हिंसा नहीं है। लोग स्वयं अपने ऊपर जो कानून लगाते हैं, वह जहाँ तक समाज में सम्भव होता है, वहाँ तक अहिंसा है। पूर्ण अहिंसा पर संगठित और चलाया जाने वाला समाज शुद्ध अराजकता ही होगा।

जहाँ तक अहिंसा अमल में लायी जा सकती है, वहाँ तक यह आदर्श भी अमल में आ सकता है। वह राज्य आदर्श है और अहिंसक है, जो लोगों पर कम-से-कम शासन करता है। अराजकता के निकटस्थ स्थान है—अहिंसा पर आधारित लोकतंत्र का। मेरे विचार में यूरोपीय लोकतंत्र लोकतंत्र के उपहास-मात्र हैं।

—गाँधीजी

चौदहवाँ अध्याय

अहिंसा का आचरण

अहिंसा का उपदेश नहीं हो सकता, उसका आचरण करना पड़ता है।

—गांधीजी

अहिंसा के आचरण की आवश्यकता—अहिंसा की बातें बहुत होती हैं, व्याख्यान होते हैं, तर्क-वितर्क और वाद-विवाद होते हैं, निबन्ध और पुस्तकें लिखी जाती हैं। सिनेमा या नाटक दिखाये जा सकते हैं। पर इससे या ऐसी अन्य बातों के पढ़ने, सुनने या देखने से काम नहीं बनेगा। यह जान लेना ही काफी नहीं है कि अहिंसा बहुत अच्छी चीज है, यह मानव जीवन के लिए बड़ी उपयोगी है। इस ज्ञान से लाभ ही क्या, यदि इसके अनुसार आचरण न हो! आवश्यकता है कि लेखक हो या उपदेशक आदि, सब अपने-अपने जीवन में, अपने रोजमर्रा के व्यवहार में अहिंसा का परिचय दें। यहाँ इसमें सहायक प्रतीत होने वाली कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है। पहले तो हम ध्यान में ले आवें कि अहिंसा कोई काल्पनिक या अव्यावहारिक वस्तु नहीं है या केवल कुछ खास प्रकार के थोड़े से व्यक्तियों के लिए ही नहीं है, यह सब के लिए है।

अहिंसा सब के लिए तथा व्यावहारिक है—इस विषय में गाँधी जी ने कहा है—'मैं कोई स्वप्न-द्रष्टा नहीं हूँ। एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का मेरा दावा है। अहिंसा-धर्म केवल ऋषियों और सन्तों के लिए नहीं है। यह मामूली आदमियों के लिए भी है। अहिंसा मानव जाति का नियम है, जैसे हिंसा पशु का नियम है। पशु

(या नर-पशु) में आत्म-शक्ति निद्रित रहती है और वह शरीर-बल के अलावा और कोई नियम नहीं जानता। मनुष्य का सम्मान अधिक ऊँचे कानून का—आत्मा की शक्ति का—अनुसरण करने का तकाजा करता है।'

तथापि अधिकतर आदमी, यहाँ तक कि बड़े विचारवान भी अहिंसा को प्रायः अव्यावहारिक ही मानते रहे हैं। सन् १९४२ की बात है। वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में जब मौलाना आजाद ने गांधीजी की अहिंसा की प्रशंसा करते हुए कहा कि ऐसी अहिंसा महात्माओं का आभूषण है, साधारण जनता से इसका पालन सम्भव नहीं, तो गाँधीजी ने जवाब में कहा—"भाई, मैं आकाश में नहीं रहता, मैं तो मरणशील और इसी दुनिया का प्राणी हूँ। मैं भी आप जैसा ही इसी मिट्टी का बना साधारण पुतला हूँ। यदि ऐसी बात न होती तो हम पिछले २० साल से साथियों की तरह एक साथ कैसे काम करते!'

अहिंसा के लिए निर्भयता आवश्यक है—अहिंसा प्राप्त करने के लिए निर्लोभता, अपरिग्रह, निरहंकार आदि कई गुणों की आवश्यकता है। इसके लिए कायरता, द्वेष आदि का त्याग भी होना ही चाहिए। यहाँ निर्भयता की ओर विशेष ध्यान दिलाया जाता है। श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने लिखा है—'जब तक भय है तब तक अहिंसा-धर्म की सिद्धि हो ही नहीं सकती। सर्प को हम मारने न दें, यह ठीक है। लेकिन हमारी अहिंसा पूर्ण तो तभी कहलायेगी, जब हम साँप का नाम सुनते ही चौंक नहीं पड़ें और साँप की हिंसा किये बिना साँप से रक्षा करने की हममें शक्ति हो। द्वेष करने की शक्ति होने पर भी जो प्रेम करता है, वह अहिंसक है। अहिंसा अर्थात् बैर का त्याग। डरने वाले की अहिंसा, अहिंसा नहीं। जहाँ बैर रखने की शक्ति ही नहीं, वहाँ जो अप्रतिकार का बर्ताव होता है, वह अहिंसा नहीं है।'

'द्वेष करने की, बैर रखने की शक्ति होनी चाहिए—इन शब्दों का

कोई अनर्थ न किया जाय। इनका अर्थ यह नहीं कि हम दूसरों के प्रति द्वेष रखने का प्रयत्न करें। हम दूसरों से भयभीत रहते हैं या निर्भय —यह हमारा मन अच्छी तरह जानता है और यह भय-वृत्ति हम विवेक से और प्रसंगोपात वर्ताव से निकाल सकते हैं। किसी गोरे साहब के सामने, किसी अफसर के सामने, किसी पठान के सामने, किसी सिपाही के सामने, चोर के सामने जाते हुए हमारा मन काँप जाता है, हमारा शरीर मानो सकुचा जाता हो, हमें रास्ता ही न सूझता हो तो यह सब भय की निशानियाँ हैं। हम उपद्रव न करें, उन्हें खुश रखें—यह प्रेम या अहिंसा नहीं है। लेकिन वे हम जैसे ही मनुष्य हैं, इस विचार से हम अपने में निःसंकोचता वढ़ावें, उनकी धाक हमारी मनोवृत्ति तक न पहुँचे, उनके साथ में हमें समानता मालूम हो तो हम उनके प्रति अहिंसा-वृत्ति रख सकते हैं और प्रसंग आने पर दृढ़ता और धीरज रख उसका उपयोग कर सकते हैं। इनमें किसी समय द्वेष-हिंसा होना भी संभव है। लेकिन डरपोक वृत्ति की अपेक्षा यह हिंसा अच्छी है।

'....अहिंसा का दूसरा अर्थ अभयदान हो सकता है। मेरे पास धन हो तो धन का दान कर सकता हूँ, बुद्धि हो तो बुद्धि का दान कर सकता हूँ, विद्या हो तो विद्या का दान कर सकता हूँ, वैसे ही मेरे पास अभय हो तो ही मैं अभय-दान दे सकता हूँ।'*

अहिंसा की साधना—यह ठीक है कि अहिंसा का—खासकर मानसिक अहिंसा का—आचरण कठिन है। गाँधी जी ने बतलाया है कि 'मानसिक अहिंसा की स्थिति को प्राप्त करने लिए कठिन अभ्यास की जरुरत है। हमारे दैनंदिन जीवन में व्रत और नियमों का पालन आवश्यक है। वह अनुशासन हमें रुचिकर भले ही न हो, फिर भी वह उतना ही आवश्यक है, जितना कि एक सिपाही के लिए। परन्तु मैं यह मानता हूँ कि यदि हमारा चित्त इसमें सहयोग न दे तो केवल बाह्य

*'महावीर और बुद्ध' पुस्तक से।

आचरण एक दिखावे की चीज हो जायगी, जिससे खुद हमारा नुकसान होगा और दूसरों का भी। मन, वाचा और शरीर में जब उचित सामंजस्य हो, तभी सिद्धावस्था प्राप्त हो सकती है। लेकिन यह अभ्यास एक प्रचंड मानसिक आन्दोलन होता है। अहिंसा कोई महज यांत्रिक कवायद नहीं है। यह तो हृदय का सर्वोत्कृष्ट गुण है और साधना से ही प्राप्त हो सकता है।'*

स्पष्ट है कि अहिंसा का आचरण सरल नहीं है, परन्तु यदि यह बहुत आसान हो, इसके लिए मनुष्य को कुछ त्याग करना, कष्ट सहना आवश्यक न हो तो फिर इसे प्राप्त करने में गौरव ही क्या है! जब कि यह बहुत कल्याणकारी है, मानवता के विकास के लिए अनिवार्य है तो मनुष्य को इसके लिए सब प्रकार का प्रयास करना ही चाहिए। अस्तु, गाँधी जी ने कहा है—'अहिंसा एक महाव्रत है। तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। देहधारी के लिए उसका सोलह आने पालना असम्भव है। उसके पालन के लिए घोर तपश्चर्या की जरूरत है। तपश्चर्या का अर्थ यहाँ त्याग और ज्ञान करना चाहिए।'†

जीव-हिंसा के विषय में विचार—जीव-हत्या का विषय बहुत जटिल है, कुछ हत्यो ऐसी सूक्ष्म होती हैं कि उसकी सहज ही कल्पना नहीं होती। प्रायः हत्या तभी विशेष निन्दनीय या पापात्मक पायी जाती है, जब आदमी किसी को राग-द्वेष के वशीभूत होकर मारता है। जहाँ किसी को मारने की इच्छा या इरादा नहीं, वहाँ हत्या पापात्मक नहीं मानी जाती। जैन आचार्यों ने हिंसा के चार भेद किये हैं—

(१) हमारे सांस लेने में, चलने-फिरने में, तथा सावधानी रखते हुए भी रोजमर्रा के कामों में होने वाली असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है।

* 'हिन्दी नवजीवन', १-१०-२१

† 'हिन्दी नवजीवन', २०-८-२५

(२) कृषि, व्यापार, उद्योगों के करने में सावधान रहते हुए भी कुछ हिंसा होती रहती है।

(३) अपनी जान-माल की रक्षा के लिए कुछ हिंसा ऐसी होती है, जिसमें हमारा उद्देश्य किसी को मारना न होकर अपना हित करना होता है।

(४) ऐसी हिंसा जो जान-बूझ कर की जाती है, जिसमें मुख्य उद्देश्य प्राणी-वध है; दूसरा ध्येय या तो होता ही नहीं, अथवा गौण होता है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में पहली तीन तो मनुष्य की इच्छा या संकल्प के बिना ही हो जाती हैं। आदमी को खासकर चौथी प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

अहिंसा का समग्र स्वरूप—हमें पशु-पक्षियों के प्रति जहाँ तक भी सम्भव हो अहिंसात्मक नीति रखनी चाहिए। पर हम उसीसे संतोष न करें। हमें मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा का आचरण करना चाहिए, और इस दिशा में उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहना चाहिए। हमारे सामने अहिंसा का समग्र रूप रहना चाहिए। छुआछूत, जाति-भेद, रंग-भेद की भावना को मिटाना सामाजिक अहिंसा है। गरीब-अमीर, मालिक-मजदूर आदि का भेद मिटाना आर्थिक अहिंसा है। किसी अपराधी से कठोर व्यवहार न कर उसे सौम्य उपायों से सुधारना, किसी राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन न करना, और पराधीन देशों को स्वतंत्र होने में सहायता देना राजनैतिक अहिंसा है। किसी को शारीरिक कष्ट न देने के अतिरिक्त मन से भी किसी का बुरा न चाहना और शक्ति-भर सब के हित-साधन का प्रयत्न करना मानसिक या नैतिक अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा का आदर्श जीवन-व्यापी है। हमें ऐसे समाज की रचना में योग देना चाहिए जो सभी दृष्टियों से अहिंसक हो।

विशेष वक्तव्य—जैसा कि श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने कहा है—'मनुष्यों का परस्पर-व्यवहार हिंसात्मक, असत्यपूर्ण और अशुद्ध रहे और केवल गूँगे प्राणियों के प्रति व्यवहार तक ही हम अपनी अहिंसा सीमित रखें तो उसमें तारतम्य-भंग का दोष होता है।' मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा की अभी क्या स्थिति है, और उसके विकास के लिए हमें क्या करना चाहिए—इसका विचार आगे के अध्यायों में किया जायगा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अहिंसा और भोजन-वस्त्र

हिंसा और अहिंसा दोनों का सम्बन्ध प्राणी-मात्र में जीने की उत्कट इच्छा या जिजीविषा से ही है। इस देश में अहिंसा का विचार सम्भवतः भोजन से शुरू हुआ और उसकी पहली भूमिका प्राणी-वध के निषेध से आरम्भ हुई। वनवासी ऋषि यह सोचने लगे कि भोजन के लिए प्राणी-वध उचित नहीं है। इस दिशा में प्रयोग और शोध के परिणाम-स्वरूप सम्भवतः फल मूल के भोजन और खेती के साधनों का विकास हुआ।

—सुखलाल

जैसा खावे अन्न। वैसा होवे मन ॥
जैसा पीवे पानी। वैसी बोले बानी ॥

—कहावत

[१] भोजन

प्रारम्भ में मनुष्य का भोजन; पशु-वध और नर-हत्या से परहेज नहीं—शुरू में आदमी यह सोचने की स्थिति में नहीं था कि कौनसा पदार्थ खाकर अपनी भूख मिटावे। उसे खाने योग्य जो भी मिल जाता, उसे ही खा लेता। वह जानबूझ कर न फलाहारी (या शाकाहारी) था और न मांसाहारी ही। उसका भोजन इस बात पर निर्भर था कि उसके रहने की जगह खाने को क्या मिलता है। कुछ जगह कुदरती तौर पर बहुत समय तक काफी फल, शाक, मूल-कन्द आदि मिलते रहे, वहाँ आदमी का मांस न खाना स्वाभाविक हुआ। दूसरी जगहों में जहाँ कुदरती फल आदि की कमी रही, वहाँ आदमी के लिए

मांस-मछली आदि खाने के सिवा कोई चारा न था।* मांस-भक्षण में आदमी को यह सोचने का अवसर नहीं था कि किस पशु-पक्षी का खाये और किसका न खाये। जिनको भी वह अपनी शक्ति या साधनों से प्राप्त कर सकता था, उन्हें खाकर अपना निर्वाह करता था। यहाँ तक आदमी को नर-मांस से भी परहेज न था। अनेक स्थानों में आदमी के आदमी को खा जाने की बात रही है। इसका कुछ उदाहरण अब भी मिल सकता है। हमारी भाषा में 'मैं तेरा खून पी जाऊँगा' वाक्य उस पुरानी हिंसा की यादगार है।

अहिंसा का विचार; नर-हत्या की कमी—आदमी द्वारा आदमी को खाये जाने की बात कम ही रही होगी। किसी प्राणी का अपनी जाति के प्राणी के प्रति ममता या स्नेह अपेक्षाकृत अधिक होना स्वाभाविक ही है। इसलिए वह जितना हिंसक, क्रूर या निर्दयी दूसरी जाति के प्राणियों के प्रति होता है, उतना अपनी जाति के प्राणियों के प्रति नहीं होता। इस प्रकार जब आदमी के मन में पहले-पहल यह विचार आया कि भोजन के लिये प्राणी-वध न किया जाय, तो उसने इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अपनी जाति के प्राणियों अर्थात् मनुष्य से ही शुरुआत की, अर्थात् उसने नर-हत्या बन्द की। ऐसा करने में एक बात और सहायक हुई होगी। आदमी प्रायः अपनी टोली के बाहर के आदमी को ही मार कर खाता था, जिसे वह पराया, गैर, या शत्रु समझता था। क्रमशः आदमियों की टोलियाँ बड़ी होने लगीं, समाज-संगठन—वह जैसा भी रहा हो—बढ़ा, इससे आदमी के लिए उस क्षेत्र का विस्तार अधिक होता गया, जिसके बाहर वह दूसरे आदमी को अपने भोजन के लिए मारने की बात सोचता। इस प्रकार मांस-भक्षण के लिए नर-हत्या कम होने लगी।

---

* एक मत यह है कि आदि मानव अहिंसक अर्थात् शाकाहारी ही था, वह बहुत अर्से बाद मांस खाने लगा है। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

क्योंकि नर-हत्या पहले भी विशेष नहीं होती थी, इसमें कमी करने से मनुष्य को खास कठिनाई नहीं हुई। पर भोजन के लिए पशु-हत्या कम करना कुछ आसान न था; इसके लिए कुछ विशेष बातों की जरूरत थी। इस दिशा में सहायक साधन के रूप में पशु-पालन की बात आयी।

अहिंसा की ओर पहला कदम; पशु-पालन—अहिंसा की दिशा में मनुष्य का पहला खास कार्य पशु-पालन था। धीरे-धीरे आदमी को मालूम हुआ कि कुछ जानवर ऐसे हैं कि उन्हें मार कर खाने की अपेक्षा उन्हें पाल कर रखना अधिक लाभकारी है। गाय, भैंस, बकरी आदि के पालने से बहुत समय तक दूध मिलता रह सकता है। घोड़ा, गधा, बैल आदि से सवारी तथा सामान ढोने का काम लिया जा सकता है। कुत्ता शिकार में सहायता देने के अलावा रात को चौकसी करने या पहरा देने का काम कर सकता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर इस तरह के जानवरों को पालने की बात चल निकली। फलस्वरूप पशु-वध एक सीमा तक कम हो गया। आदमी का शिकारी-जीवन कम हुआ और वह चरवाहा या ग्वाला होने लगा। शिकारगाहों की जगह चरागाह बढ़ने लगे।

चरवाहा बनने वालों ने मांस खाना स्वभावतः कम कर दिया, वे दूध के प्रेमी हो गये, इसलिए वे दूधारी पशुओं की तो खास तौर पर रक्षा करने लगे। फिर पशु-पालन से उनकी पशु रूपी सम्पत्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी, इसलिए उन्होंने मांस के रूप में उसे एकदम समाप्त करना बहुत घाटे या नुकसान का काम समझा। इस प्रकार पशु-पालन अहिंसा-पथ पर पहले मील के पत्थर के समान है।

खेती का आविष्कार—अहिंसा की दृष्टि से मनुष्य के भोजन के इतिहास में खेती का तो बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। दुधारू पशुओं का पालन आरम्भ हो जाने के बाद से आदमियों को भोजन-

सामग्री के रूप में दूध से अच्छी सहायता मिलने लगी थी; पर उसका परिमाण बहुत सीमित ही था। आदमी को कुछ भोजन कुदरती तौर पर पैदा होने वाले फल, मूल, कन्द आदि के रूप में भी मिलता था। पर जन-संख्या बढ़ने पर मनुष्य के लिए यह सब मिलकर काफी नहीं होता था। अधिकतर आदमी पूर्ण-रूप से या अंशतः मांसाहार पर निर्वाह करने को मजबूर थे। खेती की बात मालूम हो जाने पर आदमी तरह-तरह के फल, शाक के अतिरिक्त विविध अन्न पैदा करने लगा। अब उसकी भोजन-सामग्री में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, और यह वृद्धि स्वयं उसके अधीन थी; वह अपनी मेहनत से इसे पैदा करने में समर्थ हो गया। जिन जगहों में भूमि उपजाऊ थी, और सिंचाई के लिए यथेष्ट जल सुलभ था, वहाँ तो पैदावार आसानी से हो जाती थी। अन्य स्थानों में भी जहाँ तक सम्भव हुआ अन्न आदि पैदा करने का प्रयत्न किया गया, और उसमें कहीं कम और कहीं अधिक सफलता मिली। इस प्रकार मनुष्य का मांसाहार पर निर्भर रहने और पशु-वध करने की विवशता कम हो गयी।

स्वाद के लिए मांसाहार—इस प्रसंग में एक बात विचारणीय है। यह ठीक है कि अभी संसार में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ मनुष्यों को शाकाहारी भोजन यथेष्ट मात्रा में नहीं मिल सकता, उन्हें मांसाहार के लिए मजबूर होना पड़ता है। आशा है, भविष्य में इस स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार होगा। अच्छा, ऐसे लोगों की बात छोड़ दें। विचार करने की बात तो यह है कि अनेक आदमी यथेष्ट शाकाहारी भोजन प्राप्त करने की स्थिति में होते हुए भी केवल अपनी जीभ के स्वाद के लिए ही मांसाहार करते हैं। इससे करोड़ों पशु-पक्षी प्रतिदिन केवल इस लिए मौत के घाट उतारे जाते हैं (शिकार में जो जख्मी या अधमरे हो जाते हैं, उनकी संख्या रही अलग), कि सृष्टि के समझदार प्राणी कहे जाने वाले मनुष्य को उनका मांस खाने में

अच्छा लगता है, और वह इसमें अपनी शान मानता है। कैसी अमानुषिक बात है कि कुछ स्थानों में गर्भवती भेड़ों आदि को इसलिए मारा जाता है कि उनके गर्भस्थ बच्चे का मांस बहुत स्वादिष्ट (तथा उसका चमड़ा या रोआँ बहुत मुलायम) समझा जाता है और मा और गर्भस्थ बच्चे को एक साथ मारने से अपेक्षाकृत नफा ही रहता है।

इसका दुष्परिणाम—हम याद रखें कि भोजन में जीभ के स्वाद आदि को प्रधानता देना अपने विकास में बाधक होना है। अनेक आदमी इसे भूलकर तरह-तरह का तथा बहुत अधिक परिमाण में भोजन करते हैं; मांसाहार से भी परहेज नहीं। इससे वे शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हानि उठाते हैं। आयुर्वेदाचार्य चरक ने बताया है कि आवश्यकता से अधिक भोजन करने से मनुष्यों का शरीर मोटा हो गया। शरीर के मोटा हो जाने पर वे दैनिक जीवन का कार्य करते ही थक जाते; थकान से आराम तलबी, सुस्ती, प्रमाद बढ़ा। इस से उन्हें यह फिक्र हुई कि आगे क्या खायेंगे। तब उन्होंने खाद्य-पदार्थों को संग्रह करके रखना शुरू किया। इस प्रकार उनमें लोभ और परिग्रह की भावना बढ़ी और दूसरों को ठगने आदि का दुर्गुण पनपा। ऐसे आदमी कमजोरों को सताते और उन पर भयंकर शास्त्रास्त्रों से आक्रमण करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बड़े-बड़े देशों और राष्ट्रों में युद्ध होता है। चरित्र भ्रष्ट मानव स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को नष्ट करते हैं। इससे स्पष्ट है कि लोगों को खान-पान में कितना संयम रखने की आवश्यकता है।

मनुष्य को पशु-हत्या पसन्द नहीं—साधारणतया मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि उसे पशु-हत्या करना, या दूसरे को पशु-हत्या करते देखना पसन्द नहीं है। विशेष प्रकार के हिंसक वातावरण में रहनेवाले और दूषित संस्कार वाले कुछ थोड़े से आदमियों की बात अलग है। शेष आदमियों में शायद ही कोई मांसाहार करे, यदि उसे स्वयं ही

पशु मारना पड़े, या उसके सामने उसके भोजन के लिए पशु मारा जाय। दृष्टांत लीजिए—

'एक दिन (रूस के महर्षि) टाल्स्टाय की बहन उनसे मिलने के लिए आयीं। घर की महिलाएँ यह न समझ पायीं कि उनका मनचाहा मांस-भोजन कैसे दिया जाय, क्योंकि टाल्स्टाय के घर में मांस पकता ही न था। वे सब परेशान थीं। टाल्स्टाय को जब यह समस्या ज्ञात हुई तो वह मुस्कराये और बोले, 'तुम लोग चिन्ता न करो, मैं सब ठीक कर लूँगा।' घर के लोग सुन कर चुप तो गये पर कौतूहल से प्रतीक्षा करने लगे कि देखें अब होता क्या है। टाल्स्टाय की बहन को मुर्गा पसन्द था। टाल्स्टाय ने एक बहुत सुन्दर और बड़ा-सा मुर्गा मंगवाकर भोजन की मेज से बँधवा दिया और एक तेज छुरा मेज पर रख दिया। टाल्सटाय की बहन आयीं और यह देख कर आवाक् रह गयीं। पूछा, भाई, यह क्या ? टाल्स्टाय ने उत्तर दिया, 'कुछ नहीं, तुम्हारी आवभगत का प्रबन्ध है। यह तो तुम जानती ही हो, यहाँ तो तुम्हारे चटखे का मुर्ग मुसल्लिम शायद ही कोई बना पावे, और तुम्हारा सत्कार करना हमारा कर्तव्य है। इसलिए यह मुर्ग तैयार है—छुरा भी है—आगे जो तुम कहो वह किया जाय।' टाल्स्टाय की बहन को यह सुनते ही काटो तो खून नहीं। सुन्दर मुर्गे को वह देखती और छुरे की तेज धार को। 'ओह! कैसा प्यारा भोला-भाला यह मुर्गा है। इसकी आँख की चमक, दिल की मस्ती और जीवन से बेफिक्री तो देखो। यह तो मानव को स्फूर्ति देता है। जरा से जीभ के स्वाद के लिए मैं इस सुन्दर पक्षी के प्राण लूँ! नहीं, यह नहीं हो सकता। मुझे प्राण लेने का अधिकार ही क्या है! यह निरपराध है—अपने रूप और वाणी से यह मुर्गा मानव को प्रसन्न करता है। नहीं, मैं इसे नहीं खाऊँगी।'—इन जैसे विचारों ने उसका हृदय पलट दिया—वह भी शाकाहारी हो गयी।*

*'अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव'; ले०—श्री कामताप्रसाद जैन

मनुष्य के लिए मांस स्वाभाविक भोजन नहीं—इस समय हम बहुत से आदमियों के मांसाहारी होने की बात सुनते हैं और अनेक आदमियों के नित्य मांस खाने की बात जानते हैं। इससे हमारी यह धारणा हो गयी है कि मनुष्य के लिए मांस स्वाभाविक भोजन है। पर वास्तव में यह बात नहीं। आदमी की शरीर-रचना पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि वह मांस खाने के लिए नहीं बना है। आदमी के नख, दाँत, जबड़े, आँतें या आमाशय ऐसा नहीं है जैसा मांसाहारी पशुओं का होता है, मनुष्य का शरीर शाकाहारी पशुओं से मिलता है। इस प्रकार मांस खाना उसकी प्रकृति नहीं, बल्कि धीरे-धीरे अभ्यास और संस्कार या वातावरण से उसे इसकी आदत पड़ी है। निदान, मांसाहार मनुष्य के लिए अप्राकृतिक है।

मांसाहार का दूषित प्रभाव—प्रायः आदमी यह समझते हैं कि मांसाहार से आदमी हृष्ट-पुष्ट होता है और यह मनुष्य के लिए हितकर है। परन्तु ध्यान देने की आवश्यकता है कि यदि मांसाहार से शरीर मोटा होता हो तो मोटा हो जाना कोई लाभकारी बात नहीं है। मुख्य आवश्यकता तो शरीर को स्वस्थ, शक्तिमान, फुर्तीला, सहनशील होना है। ये बातें शाकाहार से ही विशेष होती हैं। फिर मांसाहार से क्रोध, उत्तेजना, वासना आदि की वृद्धि होती है, आदमी अशांत, चंचल, ईर्ष्यालु, झगड़ालू होता है। उसमें गम्भीरता, शान्तता नहीं आती। मन के इन विकारों का शरीर पर दूषित प्रभाव पड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य है। मनुष्य के शरीर और मन दोनों की उन्नति आवश्यक है, इसलिए मांसाहार का त्याग जरूरी है।

ऊपर कहा गया है कि मांस-भक्षण से लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ता है और रोगों की वृद्धि होती है, पर बहुत से आदमी इस बात को जानते नहीं, और जो जानते हैं, उनमें से कितने ही अपनी आदत या जीभ के स्वाद के वश मांस-भोजन का त्याग नहीं करते। इस प्रकार कई दशाओं में आदमी विशेष आवश्यकता न होने पर भी मांस खाते

हैं। तथापि जैसा पहले कहा गया, खेती में पशु-हिंसा को सीमित करने की बड़ी क्षमता है।

भोजन के लिए पशु-हत्या की अनिवार्यता न रहेगी— आजकल कुछ क्षेत्रों में खाद्य-पदार्थों का उत्पादन बहुत कम होने से मनुष्य के भोजन के लिये पशु-हत्या अनिवार्य बनी हुई है। परन्तु ज्यों-ज्यों यातायात के साधनों की अधिक उन्नति होगी, अनाज, फल और शाक भाजी आदि की कमीवाले स्थानों में ये पदार्थ दूसरे उन स्थानों से पहुँचाये जा सकेंगे, जहाँ वे अधिक पैदा होते हैं, या हो सकते हैं। फिर, कृषि सम्बन्धी अनुसंधानों से उपज अभी बहुत अधिक बढ़ायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त खाने के लिए ऐसे पदार्थों के प्रयोग किये जा सकते हैं, जो अभी नहीं खाये जा रहे हैं। इस प्रकार यदि स्वाद या शौकीनी की बात को छोड़ दें तो शाकाहारी भोजन की कमी की समस्या सहज ही हल हो सकती है। यही नहीं आबादी बढ़ने पर भी भोजन के लिए मांस की आवश्यकता नहीं होगी। इस विज्ञान के युग में जब अमरीका वाले चन्द्रलोक तक में जाने का दम भर रहे हैं, जहाँ मनुष्य के बसने के लिए और खाने-पीने के लिए सामग्री है, उस समय यह कहना कि मनुष्य को भविष्य में शाकाहारी भोजन की कमी रहेगी, कैसे मेल खाता है। भू-भौतिक अनुसंधान वाले उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के बर्फीले पहाड़ों को काट कर लाखों मील भूमि निकालने की तैयारी कर रहे हैं; विज्ञान के द्वारा, आवश्यकता होने पर चाहे जब बारिश करने के प्रयोगों में सफलता प्राप्त की जा रही है, थोड़ी सी जमीन में विज्ञान की सहायता से सदा की अपेक्षा कई गुना अन्न आदि खाद्य पदार्थ पैदा किया जा सकता है, अन्न के दाने तथा फल और शाक-शब्जी की चीजों के आकार बहुत अधिक बढ़ाने की विधि मालूम कर ली गयी और की जा रही है। वास्तव में वैज्ञानिक आविष्कारों की कोई सीमा नहीं है। पिछले दिनों छपा था कि शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर प्लम ने एक ऐसी टिकिया का

आविष्कार किया, जिसमें सभी पौष्टिक तत्व विद्यमान हैं। किसी भी खाद्य पदार्थ में जितनी शक्ति निहित है, उससे दो सौ-तीन सौ गुनी अधिक शक्ति इन टिकियों में है। प्रोफेसर महोदय की यह खोज बड़ी महत्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में, भविष्य के लिए शाकाहारी भोजन की कमी की चिन्ता करना कैसे शोभनीय है।

शाकाहार से अहिंसा के विकास में सहायता—हम यह स्वीकार करते हैं कि शाकाहार से मनुष्य का अहिंसक हो जाना आवश्यक नहीं है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह अहिंसा के विकास में बहुत सहायक है। विनोबा ने कहा है—'मैं मानता हूँ कि अहिंसा के इतिहास में मांसाहार-त्याग, हिन्दुस्तान की एक विशेष देन है। यह नहीं कि हिन्दुस्तानी सारे शाकाहारी होते हैं। लेकिन यह विचार यहाँ का सर्वमान्य विचार है। हमेशा शाकाहार करने वाले कई निर्दय लोग भी मैंने देखे हैं, आदत से मांसाहार करने वाले दयालु पुरुष भी देखे हैं। बावजूद इस बात के, मेरी श्रद्धा है कि शाकाहार अहिंसा के विकास के लिए बहुत मददगार होगा और उसके बिना मानवता में कसर रहेगी।'*

दूध छोड़ने के सम्बन्ध में विचार—आवश्यकता है कि अहिंसा की दृष्टि से पशुओं के व्यवहार में मनुष्य और आगे बढ़े। वह मांसाहार त्याग करके शाकाहारी तो बने ही, इसके अतिरिक्त यह भी विचार करे कि आदमी को पशुओं का दूध पीना भी कहाँ तक उचित है। प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी मा का दूध पीकर बड़ा होता है, और एक खास उम्र के बाद मा का दूध पीना भी छोड़ देता है। पर आदमी की बात ही दूसरी है, वह गाय, भैंस, बकरी आदि का दूध न केवल बचपन में पीता है, वरन बड़ा होकर भी पीता रहता है, यही नहीं, गाय-भैंस के दूध का घी तथा खोया या मावा बनाता है, और फिर इनसे तरह-तरह के स्वादिष्ट

---

* सर्वोदय (जनवरी १९५०)

पदार्थ तैयार करता है। गाय-भैंस का दूध निकालते समय की अन्य क्रूरता की बात छोड़ दें तो यह तो सब जानते ही हैं कि अनेक आदमी उनके बच्चों को भी काफी दूध नहीं पीने देते। आदमी द्वारा पशुओं के बच्चों के अधिकार का इस प्रकार अपहरण किया जाना सर्वथा अनुचित है। पशुओं का दूध छोड़ने की दिशा में पहला कदम यह हो सकता है कि दूध की तरह-तरह की मिठाई और पकवान न बनाये जायँ, उसका दूध के रूप में ही सेवन हो, और वह भी केवल बालकों, बूढ़ों तथा रोगियों के लिए हो।'

श्री विनोबा ने अपने 'गीता-प्रवचन' में लिखा है—'हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देने का भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवों का दूध पीये, यह बात भी तो हीनता की है। दस हजार वर्ष बाद लोग हमारे विषय में कहेंगे, 'क्यों हमारे पूर्वजों को दूध पीने का व्रत लेना पड़ा था! राम-राम! वे दूध पीते कैसे होंगे! ऐसे वे जंगली थे।' सारांश यह कि हमें निडर होकर, नम्रता-पूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्य का क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए।'

दूध छोड़ने की बात कुछ नयी नहीं है। कितने ही महानुभावों ने समय-समय पर दूध छोड़ने का उदाहरण उपस्थित किया है—कुछ ने तो इस विचार से कि दूध आखिर मांस का ही एक रूप है (अन्तर यही है कि पशु का मांस लेने से पशु मर जाता है, जबकि उसका दूध लेने से ऐसा नहीं होता), और कुछ ने इस विचार से कि मनुष्य को वह वस्तु नहीं लेनी चाहिए जिस पर पशुओं की सन्तान का अधिकार है; तथा कुछ ने इस विचार से कि देश में जितना दूध साधारणतया मिल सकता है, वह पहले बच्चों, बूढ़ों और रोगियों को दिया जाना चाहिए, और जब कि उनके लिए ही काफी नहीं है, तो दूसरे लोगों को इसे न लेना चाहिए। हमारे देश में दूध छोड़ने वालों में गांधी जी का उदाहरण सब जानते हैं। उन्होंने दूध लेना बिलकुल छोड़ दिया था, पीछे विशेष

परिस्थितियों तथा दूसरों का बहुत आग्रह होने पर वे बकरी का दूध लेने लगे थे। विनोबा की बात ऊपर कही गयी है। उनके परम-धाम आश्रम (पंवनार) में साम्ययोग का प्रयोग हुआ, उसमें घी या मक्खन की जगह पिसी हुई मूंगफली का नवनीत काम में लाया गया। वैज्ञानिक शोध करने वालों ने मालूम किया है कि मूंगफली, नारियल या सोयाबीन आदि से ऐसे पेय बनाये जा सकते हैं, जो दूध के समान गुणकारी हों। *इस विषय में और भी शोध किये जाने चाहिएँ। स्मरण रहे कि आजकल जो कृत्रिम घी 'वनस्पति-घी' या दालदा के नाम से बेचा जाता है, उसमें अहिंसा की दृष्टि नहीं है। वह तो लोभी पूँजी-पतियों की हिंसा का ही परिचायक है।

[२] वस्त्र

चमड़े का पहनावा; पशुओं की हिंसा—प्रारम्भ में आदमी खेती नहीं करता था, खेती करना नहीं जानता था। वह जंगली हालत में अपने शरीर को वृक्षों की छाल या पत्तों आदि से ढक लिया करता था। पीछे धीरे-धीरे वह समूर या चमड़े से काम लेने लगा। चमड़े के लिए अब पहले मरे हुए पशुओं का, अथवा ऐसे पशुओं का तो उपयोग होता ही है, जो मांस के लिए मारे गये हों, बहुत से पशु-पक्षी खासकर उनके चमड़े या परों की दृष्टि से भी मारे जाते हैं। ऐसा करने के लिए उस समय मनुष्य मजबूर ही था, जब रुई या सन आदि की खेती करना नहीं जानता था, जिनका कि कपड़ा बनता है, और जब ऊन का भी कपड़े के लिए उपयोग नहीं किया जाता था।

* 'भारत में जितना दूध होता है, उसे सब लोगों में बराबर बांटा जाय तो प्रति व्यक्ति लगभग ढाई छटांक हिस्से में आता है। इसमें गाय, भैंस और बकरी सब का दूध शामिल है और इसी दूध में से मिठाइयाँ भी बनती हैं।

सूती और ऊनी कपड़े के चलन से पोशाक के लिए पशु-वध में कमी—क्रमशः आदमी ने पशु-पालन का प्रयोग किया और भेड़ों की ऊन संग्रह करके उसके डोरे बनाये और उनका कपड़ा बुना। पीछे सन, पटसन के पौधों के रेशे का कपड़े के लिए उपयोग किया। फिर कपास की खेती की जाकर, रूई के सूत के कपड़े बनने लगे तो कपड़े की काफी बहुतायत हो गयी। वैज्ञानिक उन्नति होने पर अन्य पदार्थों के भी कपड़े बनने लगे। तब मनुष्य का वस्त्र-संकट उस समय की दृष्टि से कम हो गया। पहनावे के लिए चमड़े की आवश्यकता कम रह गयी। इससे पशु-वध में कमी होना स्वाभाविक ही था। निदान, मनुष्य की पहले की तरह पशु-वध के लिए मजबूरी न रही।

परन्तु इस बीच में एक नयी बात हो गयी। अनेक आदमी सूती या ऊनी आदि कपड़े से संतोष न कर ऐसे रेशम आदि के कपड़े पहनने लगे, जिनके लिए असंख्य प्राणी मारे जाते हैं। इस विषय में अन्यत्र सभ्यता के प्रसंग में लिखा गया है।

पशु-पक्षियों के प्रति सद्भावना की आवश्यकता—अस्तु, अब भोजन-वस्त्र के लिए पशु-वध-या हिंसा का विषय संसार के अधिकांश आदमियों के लिए मजबूरी का नहीं रहा। यदि मनुष्य की दूसरे प्राणियों के लिए सद्भावना हो तो अधिकांश पशु-वध सहज ही रोका जा सकता है। केवल तर्क से यह प्रश्न हल होने वाला नहीं। उदाहरण के लिए मनुष्य का मांस खाने के विपक्ष में एक भावना बन गयी है, तो नर-भक्षण प्रायः उठ ही गया है। श्री विनोबा ने लिखा है—'युद्धों में इतने आदमी मारे जाते हैं तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते हैं तो फिर इन्हें खा क्यों नहीं डालते! होते तो ये बड़े हट्टे-कट्टे लोग हैं। अब यदि शास्त्र-दृष्टि से यह तय हो जाय कि इनका मांस खाना ठीक नहीं है तो बात दूसरी। परन्तु बहुत करके यही फैसला होगा कि मनुष्य का मांस मनुष्य को जल्दी आत्मसात हो जायगा। अतः यदि और प्राणियों की तरह मनुष्य को भी हम

खाने लगें तो अनाज की कमी उतनी न रहेगी। और यदि यह मालूम हो जाय कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं तो सम्भव है कि सैनिक लोग उन्हें और भी उत्साह व उमंग से मारेंगे। परन्तु बावजूद इसके, यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यों को खाना नहीं चाहिए। इसका कारण यह है कि हमारी ऐसी भावना बन चुकी है। उसके मूल में अनुभव-सिद्ध बुद्धि है। मनुष्य का मनुष्य को खाना बुरा ही है; पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाय कि मनुष्य-मनुष्य को खाने लगें तो और भी अनर्थ होगा। फिर तो समाज के पतन की कोई सीमा ही न रहेगी; यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुञ्जाइस ही नहीं रही। यह सद्भावना का बढ़िया उदाहरण है।'*

नोट—भोजन-वस्त्र का—और मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली सभी सामग्री को जिस-जिस कच्चे पदार्थ की जरूरत होती है, उसका खेती से बहुत सम्बन्ध है। खेती का विचार एक अलग अध्याय में किया गया है।

---

* 'स्थित 'प्रज्ञ-दर्शन' से।

सोलहवाँ अध्याय

अहिंसा और औषधियाँ

जिस चीज का मनुष्य पुतला है, उसी से इलाज ढूंढे। पुतला पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु का बना है। इन पाँच तत्वों से जो मिल सके, ले। शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न सब करें और उसी प्रयत्न में कुदरती इलाज अपने आप मर्यादित हो जाता है।

गांधी जी

यदि पृथ्वी पर रोग-निवारण के लिए कोई भी व्यवस्था नहीं रहती, तो भी मैं किसी को दवाई नहीं देता; क्योंकि मैं अच्छा नहीं कर सकता तो कम-से-कम बुरा करने से तो बचता।

—डा० ट्रेल एम० डी०

पिछले अध्याय में इस बात का विचार किया गया है कि भोजन के सम्बन्ध में मनुष्य कहाँ तक अहिंसक है तथा होना चाहिए। आधुनिक काल में मनुष्य औषधियों का भी बहुत सेवन करता है। कितने ही आदमी तो कभी-कभी इनका सेवन भोजन की ही तरह, और कुछ दशाओं में भोजन से भी अधिक आवश्यक समझते हैं। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि औषधियों के लिए कितनी हिंसा होती है, और यह किस प्रकार कम हो सकती है। पहले हम पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि अधिकांश औषधियाँ ऐसी हैं, जिनसे मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता; उलटा उनसे स्वास्थ्य-हानि ही होती है। इस प्रकार औषधियों में जो हिंसा होती है, वह मनुष्य के स्वार्थ की दृष्टि से भी हानिकारक है।

औषधियों से हानि; गांधी जी के विचार—शुरू में आदमी प्रकृति के निकट रहता और सदा कुदरती जीवन बिताता था। इसलिए तन्दरुस्त रहता था, बीमार पड़ने का अवसर बहुत कम आता था, और आकस्मिक दुर्घटनाओं की बात छोड़कर वह अपनी पूरी उमर तक जीता था—जो साधारणतया सौ वर्ष मानी गयी है। क्रमशः मनुष्य सभ्यता की ओर बढ़ता गया, उसके खानपान, रहनसहन आदि में कृत्रिमता आती गयी, वह प्रकृति से दूर होता गया, और फल-स्वरूप उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। आजकल आदमी बीमार बहुत रहते हैं, खूब दवाइयों का सेवन होता है और नित्य नयी दवाइयों के आविष्कार होते जाते हैं। आदमी भूल जाता है कि प्रकृति ने हमारे शरीर में ही रोग-निवारण की भी व्यवस्था करदी है, और यदि हम कभी बीमार पड़ें तो प्रकृति से दिये हुए पदार्थों—जल, वायु, तेज (धूप) और मिट्टी—के उपचार से चंगे हो सकते हैं। गांधी जी का कथन है—

'हम लोगों की आदत है कि जरा कोई बीमारी होते ही डाक्टर या हकीम के पास दौड़ें लगाते हैं। उनके यहाँ न पहुँच पायें तो अड़ोसी-पड़ोसी, नाई-धोबी जिसने जो दवा बता दी, वही सेवन करने लगते हैं। हम माने बैठे हैं कि दवा के बिना बीमारी नहीं जाती। इस वहम ने जितनों को दुखी किया है और कर रहा है, उतने और किसी कारण से नहीं होते, न होंगे। यदि हम बीमारी की वास्तविकता को समझ लें तो इतने बदहवास न हों। बीमारी अर्थात् बे-आरामी यानी तकलीफ। बीमारी का इलाज सजा है, पर बीमारी दूर करने को दवा का इस्तेमाल बेकार है। सिर्फ इतना ही नहीं, उलटे उससे बहुत बार नुकसान होता है। घर में पड़े कूड़े को ढक देने का जो नतीजा होता है, वही दवा का होता है। ढक्कन, सड़ा कर कूड़े को बढ़ाएगा। पहला कूड़ा तो निकालना ही था, नये कूड़े को और निकालिए—यही दशा दवा लेने वालों की होती है। यदि हम कूड़े को निकाल दें, निकल जाने दें, तो कुदरत अपने आप सफाई कर लेती है। बीमारी

(बे-आरामी) द्वारा कुदरत हमें शरीर में कूड़ा होने की सूचना देती है। कुदरत ने शरीर में कूड़ा निकालने के द्वार कर रखे हैं और कोई बीमारी आने पर हमें समझ लेना चाहिए कि कुदरत ने हमारे शरीर में एकत्र कूड़े को निकालना शुरू किया है। हमें कूड़ा-सफाई के लिए आनेवाले का अहसानमन्द होना चाहिए। उसके सफाई करते समय कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो वह चुपचाप सहना चाहिए। यदि उस वक्त हम खामोशी रखें तो हमारा शरीर स्वस्थ हो जाय, हम रोग से रहित हो जायँ।'

दवाइयों से मृत्यु—ऊपर कहा गया है दवाइयों से बहुत बार नुकसान होता है। किन्तु प्रायः इस नुकसान का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जब किसी आदमी को एक रोग में दवाई लेने के बाद उसमें कुछ आराम हो जाता है तो वह यही समझता है कि उसे दवाई से आराम हुआ है। वह यह नहीं सोचता कि अगर वह दवाई न लेता, भोजन में आवश्यक परिवर्तन या उपवास करने के अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक उपचार कर लेता तो वह स्वयं ही, बिना दवाई के ही, रोग-मुक्त हो जाता। इसी प्रकार जब आदमी को दवाई लेने के कुछ समय बाद कोई दूसरी बीमारी होती है, तो वह यही सोचता है कि इस बीमारी का कारण दवाई नहीं, कुछ और होगा, जिसका वह ठीक पता नहीं लगा सकता। दवाई को दोष तभी निश्चित रूप से दिया जा सकता है, जब उसके लेने पर तत्काल बीमारी बहुत बढ़ जाय या रोगी की मृत्यु हो जाय। इस प्रकार की घटनाओं का भी अभाव नहीं है।

उदाहरण के लिए अभी, १८ अगस्त ५७ का समाचार है। सर विंस्टन चर्चिल के दामाद—उनकी सब से बड़ी लड़की के पति—एंटनी ब्यूचेम्प की मृत्यु निद्रा लाने की औषधि अधिक मात्रा में खा जाने से हो गयी। अभागा मनुष्य! नींद लाने के लिए प्राकृतिक उपचार न करके, दवाई का आसरा लेता है, जिसकी अधिक मात्रा से उसे साधारण नींद नहीं, हमेशा के लिए नींद आ जाती है। न-मालूम कितने आदमी आजकल ऐसी दवाइयों के शिकार होते रहते हैं।

औषधियों के आविष्कार के लिए विकराल पशु-हिंसा—पहले बताया जा चुका है कि आजकल नित्य नयी-नयी औषधियों का आविष्कार हो रहा है। इस आविष्कार में कितनी हिंसा होती है! अच्छे तन्दुरुस्त पशुओं पर तरह-तरह के प्रयोग किये जाते हैं। उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों में रख कर देखा जाता है कि किस दशा में उनका स्वास्थ्य कितना बिगड़ता है, किस हद पर जाकर उनकी मृत्यु होती है। पशुओं को दवाइयों से रोगी बना कर उन्हें एक-एक दवाई देकर मालूम किया जाता है कि अमुक औषधि का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है, कितने समय में उनका रोग जाता है, या रोग न जाकर उनके प्राण ही चले जाते हैं। ऐसे प्रयोगों के आधार पर हमारे शरीर-विज्ञान-वेत्ता यह निस्कर्ष निकालते हैं कि अमुक औषधि अमुक रोग वाले आदमी के लिए हितकर होने की सम्भावना है। इस प्रकार हमारे औषधि-विज्ञान की प्रयोगशालाएँ नित्य लाखों प्राणियों की जान लेती हैं, अथवा जो उससे भी अधिक चिन्तनीय हैं—उन्हें जान बूझ कर तरह-तरह के कष्ट देकर सताती हैं, उन्हें तड़प-तड़प कर मरने के लिए मजबूर करती हैं।

औषधियों के निर्माण में पशु-वध—पहले आदमी कुछ जड़ी-बूटी या वनस्पति के रूप में मिलने वाली औषधियों से ही संतोष करता था। पीछे दवाइयों में काम आने वाले पदार्थों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। अब अनेक प्रकार के खनिज या सामुद्रिक पदार्थों का उपयोग होता है जैसे लोहा, चाँदी, सोना, हीरा, पारा, गंधक, अभ्रक, मूँगा, मोती, शंख आदि। अफीम, शराब, संखिया भी खूब काम में आता है। पर हमें यहाँ खास बात यह कहनी है कि दवाइयों के लिए अनेक पशुओं की चर्बी, रक्त और मांस का इस्तेमाल किया जाता है, इससे उन बेचारों को बे-आयी मौत मरना पड़ता है, और अकसर बहुत बुरी तरह, बड़ा कष्ट पाकर। हम लोग अपने इलाज के

लिए डाक्टरों के परामर्श से दवाइयाँ या पौष्टिक पदार्थ लेते हैं, बहुधा हम यह जानते ही नहीं कि उन पदार्थों वाली शीशियों या डिब्बों में किसी प्राणी के रक्त आदि का मिश्रण है और हम कितने पशुओं की हत्या के लिए उत्तरदायी हैं।

बंदरों का घातक व्यापार—आधुनिक औषधिशास्त्र ने दूर-दूर के पशुओं का हिंसक व्यापार खूब बढ़ा दिया है। उदाहरण के लिए इधर कुछ समय से भारत से अमरीका को बंदरों का बहुत निर्यात हो रहा है। ये वहाँ चीर-फाड़ के लिए भेजे जाते हैं। इन पर क्रूरता या निर्दयता पूर्वक तरह-तरह के प्रयोग होते हैं और ये घोर कष्ट सह कर बुरी तरह मरते हैं। भारत में इन बंदरों को पकड़ने के लिए हजारों नट, कंजर आदि जातियों के लोग लगे हुए हैं, उन्हें प्रति बंदर १०) से २०) तक मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि यह व्यवसाय पर्याप्त लाभप्रद है और इससे व्यापारियों अथवा सरकार को करोड़ों रुपये वार्षिक आय होती होगी! फिर भी क्या सर्वभूतहितेरताः के अनुयायी, आध्यात्मिक संस्कृति के इस पावन देश में पैसा ही हमारे व्यापार का आधार रहना चाहिए?

इस सम्बन्ध में गाँधी जी के जीवन-काल में उनके पास अनेक पत्र पहुँचे। इस पर उन्होंने लिखा था—

'इन पत्र-प्रेषकों के प्रति मेरी पूरी सहानुभूति है। मेरा बस चले तो हत्या या चीर-फाड़ के लिए मैं एक भी बंदर को बाहर न जाने दूँ। इन पत्र-प्रेषकों से मेरी यह सलाह है कि वे भारत सरकार से ही इस विषय में प्रार्थना करें। उनकी प्रार्थना के पीछे पर्याप्त बल होगा तो उस पर निश्चय ही ध्यान भी दिया जायगा। दूसरा उपाय स्पष्ट ही यह है कि बंदरों को बाहर भेजने के खिलाफ देश में जोरदार आन्दोलन किया जाय। पर जहाँ तक मेरा ख्याल है, यहाँ इस प्रवृत्ति की बहुत कम सम्भावना है, क्योंकि जनसाधारण को शायद इस बात का

पता भी न हो कि बंदरों को बाहर भेजा जाता है और मेरी समझ में नहीं आता कि खानगी व्यक्तियों को जिनके लिए कि यह व्यापार बहुत फायदेमन्द है—मैं कैसे रोक सकता हूँ। मैं जो कुछ कर सकता हूँ वह तो यही है कि मैं अपनी यह इच्छा जाहिर कर दूँ कि इस अमानुषिक व्यापार से हिन्दुस्तान दूर ही रहे। अगर यह सिद्ध भी हो जाय कि इस तरह की चीर-फाड़ से हम मनुष्य-जाति की पीड़ा को कम कर सकते हैं, तो भी निम्न श्रेणियों के प्राणियों पर ऐसा अत्याचार करना सरासर अन्याय है। और चीर-फाड़ में जिस अमानुषिकता से काम लेना पड़ता है वह भी कोई ऐसी चीज तो है नहीं, जिसे कोई महान उद्देश्य कहा जाय। इसके विपरीत मनुष्य-जाति का असल में उद्देश्य तो यह होना चाहिये कि वह दया-धर्म को कभी न छोड़े, फिर भले ही उसके कारण उसे कितना ही दुःख सहना पड़े, या वह दुःख बढ़ भी जाय! मैं तो सोचता हूँ कि दूसरों या अन्य प्राणियों के प्रति दयाधर्म रखने से हमारा दुःख और पीड़ा कम होती है, क्योंकि उससे हमें उस पीड़ा को सहने की शक्ति मिलती है।* ['हरिजन सेवक', १८ सितम्बर, १९३७]।

गांधीजी के इस लेख को प्रकाशित हुए, बीस वर्ष हो गये, पर बंदरों का निर्यात अब भी जारी है। गत १२ मास में यहाँ से लगभग १ लाख ५७ हजार बंदर विदेश भेजे गये—विदेशी मुद्रा पाने के लिए। सरकार तथा जनता दोनों पर ही इसका उत्तरदायित्व है। ऐसा व्यापार अहिंसात्मक भावना रखने वाले भारत के लिए कलंक है।

---

* यह ठीक है कि गांधीजी ने खेती-बाड़ी का नाश करने वाले बंदरों की तथा पागल कुत्तों की हत्या का समर्थन किया था तथा जब एक बछड़ा असह्य कष्ट पा रहा था और उसके बचने की कोई आशा न रही थी तो उसे इन्जेक्शन देकर प्राण-मुक्त कराया था, पर स्वार्थपूर्ण व्यापार के लिए पशु-हिंसा उन्हें सर्वथा असह्य थी।

हिंसा से बचने के लिए औषधियों से बचिए; प्राकृतिक जीवन की आवश्यकता—यदि हम औषधियों के सम्बन्ध में होने वाली विकराल हिंसा से बचना चाहते हैं तो हमें ऐसा जीवन बिताना चाहिए कि हमें औषधियों की आवश्यकता ही न रहे। यह कहा जा सकता है कि हम औषधियां तो लेते रहें, पर ऐसी औषधियां न लें जिनमें पशुओं का रक्त, मांस या चर्बी आदि हो। पर यह बहुत व्यावहारिक नहीं है। प्रथम तो जो आदमी औषधि लेता है, उसे जब लोगों से सुनकर या विज्ञापनों से प्रभावित होकर यह विश्वास होगा कि अमुक औषधि से मुझे लाभ होगा, तो वह यह जाँच करने नहीं बैठेगा, और वह पूरी जांच कर ही नहीं सकता कि उस औषधि में जीव-रक्त आदि है या नहीं। फिर, जिस औषधि में रक्त आदि नहीं है, उसके आविष्कार में अनेक हिंसक प्रयोग भी नहीं किये गये हैं, इसका निश्चय कैसे होगा। अस्तु, औषधियों के लिए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से होने वाली हिंसा से बचने का यथेष्ट उपाय यही है कि जड़ी-बूटियों को छोड़ कर, औषधि मात्र से बचा जाय।

हम औषधियों से बचने की बात कहते हैं तो यह अर्थ नहीं कि आदमी बीमार पड़े रहें और उनका इलाज न हो। हमारा कहना यह है कि हम यथा-सम्भव बीमार ही न हों, और यदि कभी बीमार हो जायँ तो जड़ी-बूटियों और प्राकृतिक साधनों—जल, वायु, मिट्टी और धूप—का ही आश्रय लें, अर्थात् प्राकृतिक चिकित्सा को अपनायें। प्राकृतिक चिकित्सा के साथ प्राकृतिक जीवन आ ही जाता है।

सतरहवाँ अध्याय

अहिंसा और खेती

हमारी सभ्यता में गाय और बैल के लिए बहुत आदर है। हिन्दुस्तान की भाषा में 'गो' के बीसों अर्थ हैं—वाणी, पृथ्वी, बुद्धि आदि। उसका इतना जो आदर दीखता है, इसका कारण यही है कि शिकारी जीवन से मुक्ति पाने में, और दूसरे प्राणियों को खाकर जीने की परम्परा में से मुक्ति पाने में जो खेती की खोज हुई, वह हिन्दुस्तान में ही हुई।

—विनोबा

शाकाहार में मनुष्य को मांसाहार की अपेक्षा सुविधा और लाभ—प्राचीन काल में, अनेक स्थानों में मछली और मांस मनुष्य का एक खास खाद्य पदार्थ था। जहाँ मछलियाँ नहीं होती थीं, वहाँ शिकार की अधिकता थी। पीछे क्रमशः पशु-पालन की व्यवस्था हुई। उससे भोजन के लिए पशुओं के मारने की आवश्यकता कम हुई, पर अब कुछ पशु मांस के लिए भी पाले जाने लगे। बाद में खेती का आविष्कार और प्रचार हुआ, यह अहिंसा की दिशा में एक विशेष कदम था। इससे पशु-हिंसा में भारी कमी हुई, मुख्य बात यह कि अब भोजन के लिए पशु-हत्या पहले की तरह अनिवार्य न रही। खेती का चलन हो जाने पर मनुष्य को भोजन सम्बन्धी सुविधा पहले से कितनी अधिक हो गयी है, इसका कुछ अनुमान आगे के अंकों से हो सकेगा। हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि साधारणतया एक हेक्टेयर (करीब ढाई एकड़) जमीन में एक वर्ष में पशु-पालन करके जितना मांस और दूध पैदा किया जाता है, उसमें २० लाख केलरी या जीवन-मान

(शरीर के लिए आवश्यक उष्णता की मापक इकाइयाँ) होती हैं। यदि उस जमीन में आलू पैदा किया जाय तो उसमें १०० लाख, और यदि अनाज पैदा किया जाय तो उसमें १५० लाख केलरियाँ होती हैं। और अगर उस जमीन में फसलों की अदला बदली करते हुए गहरी खेती की जाय तो उसकी पैदावार में २५० लाख केलरियाँ होती हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी जमीन पर पशु-पालन के जरिये जितने मांसाहारियों का पेट भरा जा सकता है, उसी पर साग-भाजी और अनाज की खेती करके दस गुने शाकाहारियों अर्थात् निरामिष-भोजियों का निर्वाह हो सकता है।

'इंगलैंड के खाद्य-विशेषज्ञ लार्ड बायड आर एवं अन्य गणितज्ञों ने यह सिद्ध किया है कि मांस-भोजन के कारण विश्व की खाद्य-समस्या विषम हो रही है। पशुओं का मांस भी भूमि की उपज पर अवलम्बित है। अतः जितनी भूमि से एक पशु का उदर-पोषण होता है, उतनी भूमि में उस पशु के मांस से कई गुणा अधिक अनाज उगाया जा सकता है जिससे अधिक मनुष्यों का भरण-पोषण हो सकता है। पशु घास-पत्ती खाकर शक्तिशाली बनते हैं। अतः शक्तिशाली और सुखी एवं शान्त बनने के लिए मानव को शाकाहारी बनना ही उचित है। मांस-भोजन के कारण आये-दिन रोगों की वृद्धि हो रही है, लोक का स्वास्थ्य बिगड़ गया है; क्योंकि मांस-भक्षण रोगों को उत्पन्न करता है, यह डाक्टरों का मत है।'*

खेती और अहिंसा—स्पष्ट है कि खेती ने हिंसा को बहुत नियंत्रित कर दिया। आदमियों को अपने भोजन के लिए हिंसा करने की पहले जैसी आवश्यकता न रही। तथापि खेती से हिंसा सर्वथा बंद नहीं हुई। उन भू-भागों की तो बात ही क्या, जहाँ खेती काफी नहीं हो

*'अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव।' ले०—श्री कामताप्रसाद जैन।

सकती, अर्थात् जहाँ खेती द्वारा आवश्यक भोजन-सामग्री पैदा नहीं की जा सकती, जिन प्रदेशों में खेती अच्छी होती है, वहाँ भी हिंसा कम ज्यादा होती ही है। इसके कई कारण हैं। कुछ आदमी पुराने संस्कारों के कारण थोड़े-बहुत मांसाहारी हैं, इसलिए हिंसा करते हैं; और कुछ दशाओं में खेती के द्वारा खाद्य-सामग्री प्राप्त करना अधिक श्रम-साध्य है, उसकी तुलना में मांस-मछली आसानी से प्राप्त हो सकती है। कुछ दशाओं में आदमी को अपने शरीर के लिए जो चर्बी आदि की आवश्यकता होती है वह मांस के रूप में सस्ती मिल जाती है।

खेती हिंसक धंधा नहीं—खेती करने में मिट्टी के अन्दर के जीव-जन्तु मरते हैं, तथा खेती की रक्षा के लिए पशु-पक्षियों के हटाने में भी कुछ हिंसा करनी पड़ती है, इसका विचार करके कितने ही आदमी खेती को एक हिंसक उद्योग मानते हैं, और इसे करने से परहेज करते हैं। पर खेती में जो हिंसा होती है, वह लाचारी से है; जानबूझ कर वैर-भाव से नहीं की जाती, इसलिए वह वास्तव में हिंसा नहीं है। श्री जमनालाल जैन ने ठीक ही लिखा है, 'अन्न और वस्त्र के बिना किसी का चल सका है, ऐसा कोई दीखा नहीं! अहिंसा के महाव्रती साधु के दांतों तले भी भोजन के कौर पड़ते ही हैं। पानी वे छना ही पीते हैं। छानने का साधन वस्त्र है। पर अचरज है कि अन्न और वस्त्र के उत्पादन को वे निकृष्ट और हिंसक बतलाते हैं। माना कि खेती में जीव हिंसा होती है, पर उसकी मर्यादा है, उपयोगिता है, अनिवार्यता है और विशेषता है। और फिर, हिंसा कहाँ नहीं होती?.... इसी तरह कृषि को भी हिंसक उद्योग नहीं कहा जा सकता। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसे हिंसक कहने वाला भी भारी हिंसक है। अगर भोजन ग्रहण करने वाला साधु हिंसक नहीं हो जाता तो उसे पैदा करने वाला कैसे हिंसक बन जाय! सच बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों आदमी के पास पैसा बढ़ता गया, श्रम और प्रामाणिकता उससे दूर होती गयी, और वह परिग्रह के पीछे पड़ गया, त्यों-त्यों उसने अपनी सुविधा और

रुचि के अनुसार हिंसा और अहिंसा की व्याख्याएँ रच कर अपने बड़प्पन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।'❀

खेती की खोज में भारत का स्थान—भोजन के लिए जीव-हिंसा से छुटकारा पाने की तरकीब मनुष्य को हिन्दुस्तान में ही सबसे पहले सूझी, यहाँ से मनुष्य फिर दूसरे देश गया और साथ यह तरकीब लेकर गया—इस विषय में विनोबा ने एक प्रार्थना-प्रवचन में कहा है कि 'वह तरकीब थी खेती करने की। आज हमें यह मालूम नहीं कि खेती में इतना बड़ा आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है। परन्तु दो-चार दाने बोकर उसमें से सौ दाने पैदा करना और फिर हम जैसा चाहते हैं, उस तरह जीवन-निर्वाह करना, यह एक विशेष ही वस्तु मानव को सूझी थी। तब से हिन्दुस्तान में लोगों को अहिंसक जीवन का मार्ग-दर्शन मिला। फिर मांसाहार के त्याग का आन्दोलन चला। जैनियों ने उसमें पूर्णता प्राप्त की। बुद्ध भगवान ने उसके साथ अहिंसा और करुणा जोड़ दी और वैदिकों ने खेती की उपासना। इस तरह एक-एक कदम आगे बढ़ाते-बढ़ाते हिन्दुस्तान का समाज अहिंसा की खोज में आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अहिंसा की यह जो प्रथम खोज हुई, वह हिन्दुस्तान में ही हुई। मेरा वेदों का जो अभ्यास है, उस पर से मैं ऐसा कह सकता हूँ। वेदों में वर्णन आता है कि देव आये। उन्होंने हाथ में परशु लिया और जंगल काट कर भूमि बनायी। वेदों में इसका वर्णन बहुत आदर के साथ आता है। कृषि के लिए, बैल-गायों के लिए इतना निस्सीम आदर हमारे यहाँ दिखाई देता है कि उसकी तुलना में दुनिया की किसी भी दूसरी भाषा में ऐसे वर्णन नहीं मिलेंगे। हमारे सर्वोत्तम ऋषि का नाम 'ऋषभ' रखा गया है, जिसके माने हैं, उत्तम बैल। हमारे यहाँ महान बुद्ध भगवान का नाम था गौतम, जिसके माने हैं उत्तम बैल। इस तरह अपने लड़कों को बैल की उपाधि देने में यहाँ के लोगों को इज्जत मालूम होती थी, क्योंकि

❀ समाज और जीवन।

उस बैल की मदद से हमें अहिंसक जीवन का दर्शन हुआ था। हमार
सभ्यता में गाय और बैल के लिए बहुत आदर है। हिन्दुस्तान क
भाषा में 'गो' के बीसों अर्थ हैं; वाणी, पृथ्वी, बुद्धि आदि। उसक
इतना जो आदर दिखता है, इसका कारण यही है कि शिकारी जीव
से मुक्ति पाने में, और दूसरे प्राणियों को खाकर जीने की परम्परा
से मुक्ति पाने में जो खेती की खोज हुई, वह हिन्दुस्तान में ही हुई।
['सर्वोदय', जनवरी १९५५]

और भी शोध की आवश्यकता – विज्ञान की उन्नति औ
प्रचार हो जाने से अब बहुत से ऐसे स्थानों में भी अन्न और फल आ
काफी मात्रा में पैदा किये जा सकते हैं, जहाँ पहले इनकी बहुत कम
रहती थी। इसके अलावा माल ढोने के साधनों की उन्नति से अब य
भी सम्भव हो गया है कि जहाँ ये वस्तुएँ काफी पैदा नहीं हो सकतीं, वह
दूसरे स्थानों से पहुँचा दी जायँ। इस प्रकार, अब अनेक स्थानों में मनुष
को खाद्य पदार्थों की ऐसी कमी नहीं रही है कि वह मांसाहार करने
लिए मजबूर हो। तथापि अभी खेती के सम्बन्ध में अहिंसा की दृष्टि
और भी बहुत शोध या आविष्कार और उन्नति की आवश्यकता है।

विनोबा ने उक्त प्रवचन में कहा है—'दुनिया में जो हिंसक तरी
चलते थे, उनके प्रमाण में खेती का तरीका अहिंसक माना जायगा, ज
हमें हासिल हुआ था। मैंने 'प्रमाण में' इसलिए कहा कि खेती में भ
कुछ हिंसा हो जाती है। परन्तु खेती में पहले की अपेक्षा, अहिंसा
लिए बहुत अवकाश मिला........जीवन के अन्तर्गत जो हिंसा थ
उससे मुक्त होने के साधन की खोज तो हुई, लेकिन अभी भी मांसाहार
पूरे निवृत्त तो नहीं हुए हैं। लेकिन जब दूध बढ़ेगा, खेती के लिए पा
का प्रबन्ध होगा, सिंचाई का प्रबन्ध होगा और हरेक का खेती के सा
सम्बन्ध जुड़ेगा—फिर वह चाहे मेहतर हो या मिनिस्टर, थोड़ी देर
लिए वह खेती करेगा ही—तो ऐसी परिस्थिति निर्माण होगी

मनुष्य को प्राणियों के मांस के आधार पर जीने की भी जरूरत नहीं रहेगी।'

भूमि पर समाज का स्वामित्व हो—ऊपर खेती सम्बन्धी वैज्ञानिक उन्नति और नये-नये शोध करने के विषय में लिखा गया है। उससे उत्पादन में यथेष्ट सुधार तथा वृद्धि होगी। परन्तु समाज की भोजन सम्बन्धी माँग पूरी करने के लिए यही काफी नहीं है। उपयोग की सामग्री बढ़ जाने पर भी उसका वितरण ठीक होने की जरूरत होती है। खाद्य सामग्री के वितरण में न्याय और समानता स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि भूमि और प्राकृतिक साधन किसी की निजी सम्पत्ति न हों, क्योंकि ऐसा होने की दशा में शोषण का प्रसंग आता है, और उससे कुछ लोगों के अभाव-ग्रस्त होने की नौबत आती है। इसलिए भूमि पर किसी व्यक्ति या संस्था का स्वामित्व न होना चाहिए, वह प्रकृतिदत्त पदार्थ है, जैसे कि हवा, पानी और प्रकाश है।

श्री विनोबा की प्रेरणा से और उनके नेतृत्व में, भारत में जो भूदान आन्दोलन हो रहा है, जो अब ग्रामदान के स्तर पर आ गया है, उसकी मूल भावना यह है कि गाँव के सब लोग यह महसूस करें कि हम आपस में भाई-बहिन हैं, हर एक आदमी भरसक मेहनत करे और जो पैदावार हो उसका अपनी आवश्यकता के अनुपात में बँटवारा करे। कोई आदमी किसी खेत को अपनी निजी मिलकियत न माने। अस्तु, हमारा लक्ष्य स्वामित्व-विसर्जन है। व्यवहारिक दृष्टि से यह बात अभी ग्रामदान स्तर पर है। पर वास्तव में योजना यह भी नहीं होगी कि प्रत्येक गाँव के आदमियों को वहाँ की भूमि पर अधिकार हो, क्योंकि किसी गाँव की भूमि वहाँ के निवासियों की आवश्यकता से कम होगी, और किसी गाँव की भूमि आवश्यकता से अधिक। हमें आस-पास के गाँवों की भी आवश्यकता का विचार करना होगा, और इस प्रकार देश के विविध गाँवों की भूमि में आवश्यकतानुसार आदान-प्रदान होगा। आगे हमें इस दिशा में और भी कदम बढ़ाना है; देशों या राज्यों की

सीमा लांघ कर हमें संसार की दृष्टि से सोचना होगा। स्पष्ट है कि यह आदान-प्रदान एक ही बार हमेशा के लिए किया जाना न्यायोचित नहीं हो सकता; समय-समय पर इसकी नयी आवृत्ति होगी, क्योंकि किसी परिवार, गाँव या देश की आबादी में स्थिरता नहीं रहती, वह घटती-चढ़ती रहती है, और संसार की कुल आबादी तो बढ़ती ही रहती है।

नोट—यह अध्याय खेती सम्बन्धी होने से, हमने यहाँ भूमि स्वामित्व के विसर्जन की बात कही है। वास्तव में मानव हित के लिए भूमि के साथ अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति का विसर्जन आवश्यक है। इसका खुलासा विचार हमने अपनी 'मालकियत का विसर्जन' पुस्तक में किया है।

———

अठारहवाँ अध्याय

अहिंसा और उद्योग-धंधे

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक (शारीरिक) श्रम रामवाण-रूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है, उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रख कर आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी आदि कर सकता है।

—गांधी जी

प्रारम्भ में उद्योग-धंधों में हिंसा बहुत कम—प्रारम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएँ कम थीं। आदमी प्रकृतिदत्त पदार्थों से, उनपर विशेष क्रिया किये बिना ही,अपना काम चला लेता था। क्रमशः मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएँ बढ़ीं और उसे प्रकृति से मिले पदार्थों से नयी-नयी वस्तुएँ तैयार करने की बात सूझी। सीधे-सादे औजार बने। उन्हें आदमी अपने हाथ से ही चला लेता। जब आदमी पशुओं को पालने लगा तो औद्योगिक क्रियाओं में कुछ पशुओं की शक्ति का उपयोग करने लगा। आदमी उद्योग-धंधों का काम अपने-अपने घर में कर लेता था, या उनमें पास-पड़ोस के आदमियों की सहायता ले लेता था। इन उद्योग-धंधों का काम छोटे पैमाने पर होता था, इनका स्वरूप गृहोद्योग या ग्रामोद्योग का था। इनमें हिंसा बहुत कम होती थी।

दास-प्रथा के समय उद्योग-धंधों में हिंसा—दासता या गुलामी के विषय में एक अन्य अध्याय में लिखा गया है। जब उसका

चलन था, दासों को कोड़ों से, या लकड़ी, लोहे के डंडे से मारना, उन्हें जख्मी करना, खाने को भी बहुत ही घटिया तथा उनकी आवश्यकता से कम देना साधारण बात थी। मालिक की आय का आधार दासों के श्रम का शोषण था। इस प्रकार दास-प्रथा के समय उद्योग-धंधों में कितनी हिंसा होती थी, यह स्पष्ट है। अब साधारणतया दास-प्रथा उठ गयी है, वह वैध नहीं रही है, यों कहीं-कहीं किसी-न-किसी रूप में मिलती है।

बड़े उद्योग-धंधे और दासता—पिछले दो सौ साल से भाप, गैस, बिजली आदि की शक्ति से चलने वाले कल-कारखानों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इनमें एक-एक जगह हजारों और एक-एक देश में करोड़ों मजदूर काम करते हैं। इससे मालिक और मजदूरों का सम्बन्ध बहुत विचारणीय हो गया है।

अनेक स्थानों में मजदूरों की दशा प्राचीन काल के दासों से भी अधिक शोचनीय और दयनीय है। दास तो मालिक के कुटुम्ब के साथ रहता था, और मालिक की प्रकृति या स्वभाव अच्छा होने की दशा में उसका स्नेह प्राप्त करता था। और नहीं, तो चाहे अपने स्वार्थ के विचार से ही सही, मालिक उसके स्वास्थ्य और भरण-पोषण की चिन्ता करता था, जिससे दास बीमार न पड़ जाय, और जल्दी ही मर न जाय। पर अब तो मालिक या पूँजीपति मजदूरों से कड़े से कड़ा काम करने पर भी जब उसे मजदूरी के बंधे हुए पैसे दे देता है तो वह समझता है कि मेरा कानूनी कर्त्तव्य पूरा हो गया, उन पैसों से मजदूर और उसके आश्रित व्यक्तियों का निर्वाह हो या न हो, वे भूखे मरें या सर्दी से ठिठरें, मालिक की बला से।

शोषण और हिंसा—कल-कारखानों की केन्द्रित उत्पादन-पद्धति में मालिक लोग अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं। कारखाने के मुनाफे पर उनका अधिकार होता है, और अगर वे मुनाफे का कुछ

हिस्सा मजदूरों को दे देते हैं तो भी अधिकांश भाग तो वे स्वयं अपने पास ही रखते हैं। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे बड़े-बड़े विशाल भवनों में रहते हैं, और उनकी विलासिता, शौक और मनोरंजन के साधन उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। उनकी बैंकों की जमा और जायदाद में लगी रकमें बढ़ती जाती हैं जब कि मजदूर जन्म-भर जैसे-तैसे रहते हैं और अपने लिए मामूली अच्छा मकान भी नहीं बना पाते। इस प्रकार मालिकों और मजदूरों के रहनसहन आदि में कितनी विषमता है! और मालिकों का बेहद मुनाफा कहाँ से आता है? मजदूरों को यथा-सम्भव कम मजदूरी देने, उनका भरसक शोषण करने, उनकी शक्ति और सामर्थ्य का और उनकी गरीबी का अनुचित लाभ उठाने से—चाहे वह कानून सम्मत ही हों। और यह सब हिंसा ही तो है।

साम्राज्यवाद और बेकारी से होनेवाली हिंसा—यदि कल-कारखानों के सब मजदूरों के हित की उचित व्यवस्था कर दी जाय तो इस प्रकार के उत्पादन से एक अन्य हिंसा, और बहुत बड़ी हिंसा तो होती ही रहेगी। बात यह है कि इन कल-कारखानों में जितनी वृद्धि और विकास होता है, उतनी ही बेकारी बढ़ती है। यह कहा जा सकता है कि बेकारों को दूसरा काम दे दिया जाय। पर अनुभव बतलाता है कि यह बात विशेष व्यावहारिक नहीं है। यदि एक देश के सब आदमियों को यंत्रोद्योगों में लगाया जाय तो शीघ्र ही वह अवस्था आ जाती है जब उनसे तैयार होने वाले माल के लिए बाजार ढूँढ़ने और उन्हें स्थायी रूप से अपने लिए सुरक्षित करने के वास्ते साम्राज्यवादी होना पड़ता है जो स्वयं एक संगठित हिंसा है, क्योंकि इसके कारण दूसरे देशों से युद्ध ठनता है। यदि हम विनाश-कारी साम्राज्यवादी नीति को नहीं अपनाते तो यंत्रोद्योग से बेकारी का अधिकाधिक बढ़ना अनिवार्य है, अवश्यम्भावी है। और, जो लोग बेकार रहते हैं, वे भूखे मरते क्या न करेंगे—चोरी, छल-कपट, धोखे-बाजी, भिक्षा, हत्या आदि। जो लोग इन दूषित उपायों को काम में

नहीं लाते या नहीं ला सकते उन्हें आत्म-हत्या का मार्ग अपनाना होगा, अथवा क्षुधा-पीड़ित अवस्था में तिल-तिल करके मरने की तैयारी करनी होगी। इससे स्पष्ट है कि बड़े उद्योग-धंधों में कितनी हिंसा होती है।

स्वतन्त्रता का ह्रास—कारखानों में एक भयंकर बुराई और भी है। इनमें वस्तुओं का उत्पादन भले ही अधिक हो, मनुष्यों का और मानवता का ह्रास हो जाता है। आदमी यंत्र में काम करते-करते चेतन प्राणी न रहकर यंत्र के एक पुर्जे के समान जड़ हो जाता है। उसे सृजन या रचना का गौरव और आनन्द नहीं रहता। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। उसे यंत्र के साथ-साथ चलना पड़ता है; यंत्र जब जैसी हरकत करने की मांग करता है, आदमी को उसी समय वैसी हरकत करनी पड़ती है। जब तक यंत्र काम करे आदमी को भी काम करना होगा; उसे अवकाश नहीं मिल सकता, चाहे उसे इसकी कितनी ही जरूरत क्यों न हो। यंत्र के बंद होने पर ही आदमी को छुट्टी मिल सकती है। इस प्रकार आदमी की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है।

ग्रामोद्योगों और लघु उद्योगों की आवश्यकता—इन सब दोषों से बचने के लिए जरूरी है कि यंत्रोद्योगों का उपयोग कम से कम हो। वे उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रहें जो लघु उद्योगों से पूरी नहीं हो सकतीं, और साथ ही जो सर्वसाधारण के दैनिक जीवन के लिए अनिवार्य हों। इन यंत्रोद्योगों की व्यवस्था और संचालन-कार्य किसी व्यक्ति या निजी संस्था के सुपुर्द न रह कर नगरपालिका, स्थानीय या राष्ट्रीय पंचायत या अन्य सार्वजनिक संस्था द्वारा किया जायगा, जो समाज के व्यापक हित का यथेष्ट ध्यान रखे। स्पष्ट है कि यह यंत्रोद्योग बहुत ही कम या सीमित रहेंगे। इन्हें छोड़कर शेष सब तो लघु-उद्योग या ग्रामोद्योग ही होंगे। रोजमर्रा की समस्त साधारण मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति ग्रामोद्योग ही करेंगे, जिनमें बेकारी तथा उसके

कारण होने वाली विविध हिंसा का खतरा न होगा और सब लोगों को आजीविका मिलेगी।

ग्रामोद्योग में एक बात और भी है। उनमें जीव-हिंसा बहुत ही कम होती है। उदाहरण के तौर पर आटा पीसने की बात लें। यदि यह काम हाथ-चक्की से किया जाय तो हिंसा बहुत कम होने की सम्भावना है। पीसने वाला एक-एक मुट्ठी अनाज चक्की में डालता है, अगर उस अनाज में जीव-जन्तु होंगे तो सहज ही मालूम हो जायेंगे। इसके विपरीत, आटा पीसने की ऐसी चक्की की बात लें, जो बिजली या तेल आदि से चलती है। इसमें अनाज की बोरी एक साथ खाली कर दी जाती है, और एक के बाद दूसरी बोरी का अनाज डालते रहते हैं। यह देखने का मौका नहीं आता कि अनाज में कोई जीव-जन्तु तो नहीं है। गेहूँ के साथ घुन पिसने की कहावत इस दशा में, हाथ-चक्की की अपेक्षा कहीं अधिक चरितार्थ होती है। इसमें तो यह भी सम्भव है कि बोरी में कोई चुहिया हो और वह भी अनाज के साथ ही पिस जाय। इसी प्रकार चीनी बनाने, तेल आदि निकालने के उद्योगों का विचार करें तो स्पष्ट है कि बड़े या यंत्रोद्योगों में जीव-हिंसा बहुत होती है और ग्रामोद्योगों में बहुत कम।

विशेष वक्तव्य—वर्तमान अवस्था में लोगों ने अपनी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ा रखी हैं, वे अपने फैशन, मौज, शौक आदि के लिए कल-कारखानों में बनी कितनी ही ऐसी चीजें काम में लाते हैं, जिनके बिना साधारणतः दैनिक जीवन में कोई बाधा नहीं होती। स्पष्ट है कि ऐसी वस्तुओं को काम में लाना हिंसक धन्धों को प्रोत्साहन देना है, असानवीय है। अहिंसा-प्रेमियों के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे मौज-शौक को कम करें, संयम और सादगी का जीवन व्यतीत करें। मानवता के विकास के लिए यह करना ही होगा।

—:o:—

उन्नीसवाँ अध्याय

अहिंसा और व्यापार

मानवता के इस प्रमुख स्वार्थ पूर्ण कार्य (व्यापार) से बेईमानी और धोखाधड़ी को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बाजार में अत्यधिक मात्रा में माल भर देने (डम्पिंग), शोषण, तथा श्रमिकों की भूखमरी के रूप में अनेक प्रकार की हिंसा प्रचलित है। फिर भी धीरे धीरे इनके विरुद्ध मानव अन्तःकरण जाग्रत होता जाता है और उसमें दृढ़ता आती जा रही है

—जी० भ० कृपलानी

आजकल व्यापार पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है, मानव जीवन में उसका विशेष स्थान है। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि व्यापार में अहिंसा का ध्यान कहाँ तक रखा जाता है, मनुष्य ने इसमें पहले की अपेक्षा कितनी प्रगति की है, इसमें क्या कमी है, और उसमें किस प्रकार तथा क्या सुधार होना चाहिए।

व्यापार में हिंसा और अहिंसा—हमारा सामाजिक जीवन अहिंसा-मय होने के लिए एक प्रमुख आवश्यकता यह है कि हमारा व्यापार अहिंसक हो। व्यापार जितना अधिक अहिंसक होगा, उतना ही वह समाज को अहिंसक बनाने में सहायक होगा। यदि हम अपनी वस्तुएँ दूसरों को बेचने में अपने मुनाफे का लक्ष्य नहीं रखते, वरन् यह विचार करते हैं कि दूसरों को उन वस्तुओं के अभाव से कष्ट है, और उस कष्ट को दूर करना हमारा कर्तव्य है, चाहे ऐसा करने में हमें एक सीमा तक हानि और असुविधा ही क्यों न हो—अर्थात् यदि हम व्यापार को प्रेम-भाव से, सेवा की दृष्टि से, त्याग-पूर्वक करते हैं

तो यह व्यापार अहिंसक है और समाज में अहिंसा बढ़ाने वाला है।

अब दूसरे पहलू का विचार करें। हम व्यापार में मुख्य लक्ष्य अपना स्वार्थ-साधन या मुनाफाखोरी रखते हैं। हम दूसरों के अभावों और कष्टों से अनुचित लाभ उठाते हैं, अकाल या दुर्भिक्ष और बाढ़-ग्रस्त क्षेत्रों की भूखी जनता में अपना अनाज, जिसकी लागत दस रुपये मन है, बीस और तीस रुपये मन के हिसाब से बेचते हैं, अथवा लोगों में युद्ध, विलासिता, शौकीनी या नशे के पदार्थ बेचते हैं और उनका प्रचार करते हैं, जब कि हम जानते हैं कि इन पदार्थों के उपयोग से उनका कोई हित न होकर हानि ही होगी, अथवा हम अपनी चीजें सस्ते भाव से बेचकर दूसरों के उद्योग-धंधे चौपट करते हैं, जिससे वे हमारे आश्रित हो जायँ, और पीछे महँगे भाव से भी हमारी चीजें खरीदने के बाध्य हों—इस प्रकार का हमारा व्यापार अनैतिक तथा हिंसक है।

पशुओं का हिंसक व्यापार—आजकल बहुत से आदमी ऐसे होते हैं कि वे अपने आप को अहिंसा-प्रेमी मानते हैं, समाज में भी वे अहिंसा-प्रेमी समझे जाते हैं। परन्तु उनकी अहिंसा जानवरों की स्वयं हिंसा न करने, जानवरों के लिए कुछ खाने की वस्तु दे देने या कुछ खास-खास नियमों का पालन करने (जैसे पानी छान कर पीने, कच्चे या हरे फल और शाक-भाजी न खाने, दतवन या मंजन न करने आदि) तक ही सीमित रहती है। ये लोग अपने रोजमर्रा के विविध कार्यों में अहिंसा-व्रत का ध्यान नहीं रखते। खासकर व्यापार में तो अहिंसा-नीति रखने में ये अपनी असमर्थता स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं। प्रायः कहा जाता है कि व्यापार तो व्यापार है, उसमें धर्म या सिद्धान्त का पालन नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक हिन्दू जो 'अहिंसा परमो धर्मः' की रट लगाया करते हैं, उन पशुओं के बेचने में कुछ संकोच नहीं करते, जिनका मारा जाना निश्चित और स्पष्ट है। गाय, बैल, बकरी आदि को कसाइयों के हाथ बेचने में अनेक आदमियों को कोई परहेज नहीं होता। मछलियों तथा विविध पक्षियों और बंदरों का व्यापार काफी

बड़े पैमाने में होता है, और यह सब केवल मुनाफे के लिए। क्योंकि इस व्यापार से सरकार को भी आमदनी होती है, इसलिए वह भी इसमें बाधक नहीं होती, वरन् अनेक दशाओं में वह इसे प्रोत्साहन ही देती है। बंदरों के विषय में विशेष रूप से पहले लिखा जा चुका है।

वर्तमान व्यापार में हिंसक व्यवहार—एक आदमी किसी क्षेत्र में व्यापार कर रहा है, और उससे वहाँ की आवश्यकता पूरी हो रही है तो दूसरे आदमी को वहाँ उस वस्तु का व्यापार करने की कोई जरूरत नहीं है। पर स्पर्द्धा की भावना से दूसरा आदमी भी उस व्यापार को करने लगता है, इसमें उसकी दृष्टि उस क्षेत्र के आदमियों की सेवा या सहायता करने की न होकर अपने माल की खपत और बाजार बढ़ाना (जिससे उसकी आमदनी बढ़े), और अपने प्रतियोगी को हरा कर अपनी सत्ता बढ़ाना होता है।

अहिंसक व्यापार में आदमी बराबर सतर्क रहेगा कि जिस वस्तु का मैं व्यापार करता हूँ, उसकी समाज को आवश्यकता है। वह समाज की मांग होने से ही किसी वस्तु के व्यापार को नहीं करने लगेगा। वह सोचेगा कि यह वस्तु वास्तव में समाज के लिए हितकारी है। इस प्रकार युद्ध-सामग्री, मादक पदार्थों, विलासिता या शौकीनी की वस्तुओं के व्यापार का निषिद्ध होना स्पष्ट है। यदि इस दृष्टि से विचार करें, तो साधारणतया यही कहा जायगा कि व्यापार में बहुत गलत व्यवहार हो रहा है, इसमें हिंसा की भरमार है।

क्या व्यापार में अहिंसा की कुछ प्रगति नहीं हुई ?—यहाँ हमें यह भी विचार करना चाहिए कि पहले व्यापार में कैसा-कैसा हिंसक व्यवहार किया जा चुका है, और, उसकी तुलना में अब स्थिति कैसी है। अगर हम प्राचीन और खासकर मध्यकाल के व्यापार को ध्यान में लावें तो हमें अहिंसा के सम्बन्ध में विशेष निराश होना नहीं पड़ेगा। जैसा कि आचार्य कृपलानी ने लिखा है—'यह (व्यापार)

लूट, चोरी और दस्युता से आरम्भ हुआ। बहुत जमाना नहीं गुजरा, जब पश्चिम में पृथ्वी और समुद्र पर छापा मारने के लिए वहाँ की विभिन्न सरकारों द्वारा व्यवसाय-संघों का निर्माण होता था और उन्हें सनदें दी जाती थीं। उतना ही व्यापार वे जानते थे। एलिजेबेथ के समय के इंगलैंड में यह अच्छा व्यापार समझा जाता था कि स्पेन के जहाज अमरीका से जो बहुमूल्य सामग्री लाते थे, उन पर समुद्री डाकुओं के रूप में छापा मारा जाय और वह माल स्पेनी लोग खुद भी इसी प्रकार की व्यापारिक लूट में प्राप्त कर लाते थे। हब्शियों को उनके देश से जबरदस्ती भगा लाकर अमरीकन कृषि-क्षेत्रों या बागों में उन्हें गुलामों के रूप में बेचना अंगरेजों का बड़ा लाभ-जनक व्यवसाय था। वे मानव-मांस के इस व्यवसाय के अपने एकाधिकार को उस समय इतना उचित और न्यायपूर्ण समझते थे कि उसके लिए अन्त तक तैयार हो सकते थे।

'आज ये बातें लुप्त हो गयी हैं। यह ठीक है कि व्यापार और उद्योग अभी तक धोखाधड़ी और हिंसा के सूक्ष्म रूपों से मुक्त नहीं है, किन्तु उनमें जो प्रगति हुई है, वह बहुत अधिक है। एक व्यापारी के शब्द का लिखित वादे ('बांड') की भाँति ही सम्मान किया जाता है। धोखाधड़ी तो सदैव सम्भव है, फिर भी सामान्य व्यापारिक सम्बन्धों में दोनों पक्षों के लाभ की सम्भावना रहती है। नमूने के अनुसार माल भेजा जाता है। धीरे-धीरे निश्चित एवं स्थिर मूल्यों का चलन बढ़ रहा है। मानवता के इस प्रमुख स्वार्थपूर्ण कार्य से बेईमानी और धोखाधड़ी को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।'*

इससे स्पष्ट है कि व्यापार के क्षेत्र में अहिंसा की बहुत नहीं, तो खासी प्रगति हुई है। तथापि जो हिंसा विद्यमान है, वह कुछ कम चिन्तनीय नहीं है। इस परिस्थिति में बहुत सुधार करने की आवश्यकता है।

---

* 'गांधी-मार्ग' पुस्तक से

सुधार के लिए सुझाव—अहिंसा की दृष्टि रखने पर विवेकशील आदमी सहज ही अपना कर्तव्य जान सकता है। इसका कुछ संकेत ऊपर लिखा जा चुका है। तथापि कुछ ब्योरेवार बातों का उल्लेख करना उपयोगी होगा। इस सम्बन्ध में श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने लिखा है—'झूठा—हिंसामय, अधर्ममय—व्यापार समेट कर सच्चा, अहिंसा का, धर्म का व्यापार शुरू करना उचित है। जिन उद्योग-व्यापारों से लाभ की मात्रा बहुत बढ़ती है, छोटे व्यक्ति और निर्बल प्रजा का शोषण होता है, और लड़ाई छिड़े या चलती रहे तो अच्छा—ऐसी इच्छा होती है, उन उद्योग व्यापारों को बन्द कर देना चाहिए।'

'एक ही मनुष्य का अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे करना अधर्म है। मनुष्य अपने निर्वाह के लिए कोई भी एक धन्धा खोज ले। अपनी, सारी शक्ति और पूँजी उसी में लगा दे। परन्तु एक ही व्यक्ति का जवाहिरात, कपड़ा, लोहा, तेल का कोल्हू, मोटर और अन्य सवारियाँ आदि सब प्रकार के उद्योग करना बिना अधर्म-कर्म के नहीं हो सकता, 'क्योंकि इसमें लोभ की कोई मर्यादा नहीं है; और जहाँ लोभ है, वहाँ अहिंसा सम्भव नहीं है।'

'........सोने चाँदी का सिक्का स्वयं बांझ है। उसमें नफा पैदा करने की शक्ति नहीं है। जो अधिक कीमत मिलती है, वह मजदूर की मेहनत में की है। इसलिए ब्याज के मानी कारीगर या मजदूर की मेहनत से लिया जाने वाला हिस्सा। अगर वह हिस्सा इतना बड़ा हो कि हम उसकी बदौलत ऐश-आराम में रह सकें और मेहनत करने वालों को हमेशा तंगी में रहना पड़े तो उस व्यवस्था में हिंसा होनी ही चाहिए।'

'इक्के वाले के घोड़े को सिर्फ खुराक ही मिल सकती है। दिन भर की कमाई चाहे एक रुपया हो या दस रुपया हो, उसके हिस्से में कोई फर्क नहीं पड़ता। उसी तरह हमारे देश में मेहनत-मजदूरी करने वालों को कोरी खुराक ही मिल सकती है; अच्छी फसल या बाजार की तेजी

का उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। व्यापार का यदि यह आवश्यक लक्षण या परिणाम हो तो वह व्यापार, उस व्यापार को निबाहने वाली सामाजिक तथा राजकीय अवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय नीति तथा देश-रक्षा की सामग्री—इन सब को हिंसा की ही परम्परा कहना होगा।'*

परस्पर व्यवहार में अहिंसा—पहले कहा गया है कि अहिंसा कुछ छोटे-छोटे जीवों को रक्षा करने में या पशु-बध-निषेध तक ही सीमित नहीं है। वह तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बर्ती जानी चाहिए। मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में पद-पद पर प्रकट होनी चाहिए। 'इस दृष्टि से निम्न प्रकार के व्यक्तिगत निश्चय किये जा सकते हैं—

१—मनुष्य की हिंसा करने वाली प्रवृत्तियों या व्यापारों में अपना निजी या धर्मादाय का पैसा न लगाना।

२—किसी भी व्यापार में मूलधन पर जिससे दो या ढाई प्रतिशत से अधिक व्याज मिले, इतना नफा न लेना।

३—सट्टा और जुआ समान समझना।

४—शरीर-परिश्रम करने वाले व्यक्ति को कर्ज देने का मौका आवे तो बम्बई जैसे बड़े शहर में जब तक वह कम-से-कम डेढ़-दो रुपया रोज कमाई न कर सके, तब तक उससे व्याज न लेना।

५—अपनी मासिक कमाई की एक मध्यम मर्यादा बना कर उससे अधिक कमाई न करना। अधिक कमाई होती हो तो शेष सारी रकम सार्वजनिक हित के कामों में अथवा मेहनत-मजदूरी करने वाले वर्गों को स्वावलम्बी बनाने में इस्तेमाल करना।

६—दान या धर्मादाय का पैसा जोड़-जोड़ कर न रखना। उसे बढ़ाने के बदले खर्च कर डालने का प्रयत्न करना।

७—नौकर-चाकर तथा मजदूर-कारीगरों को पूरा और उदारता से पारिश्रमिक देना, भले-बुरे मौकों पर उनकी मदद करना और अपने भोग-विलास कम करके उनकी हाजतें पूरी करना।

---

* 'बुद्ध और महावीर' पुस्तक से।

८—हमारे पास काफी पैसा हो तो भोग-विलास कम करना तथा सादगी और संयम से रहना। अपने भोग-विलास और व्यक्तिगत खर्च द्वारा पैसे की इफरात दिखाने में वड़प्पन न मानना।

९—जहाँ तक हो सके, अपनी जरूरत की सारी चीजें सीधे उन्हें बनाने वाले कारीगरों से खरीदना, उन्हें मजदूरी से रखने वाले व्यापारियों या कारखाने वालों से नहीं; अर्थात् मिल का कपड़ा या वड़े-वड़े कारखानों में बनने वाला माल न वरत कर, खादी, ग्रामोद्योग और दस्तकारियों को उत्तेजना देना।'*

जैसा श्री मश्रूवाला ने लिखा है—'यदि हम इस प्रकार अपना व्यापार सुधार कर पवित्र करें तो गाँधी जी की भाषा में जरा फेरफार करके कहा जा सकता है कि, 'सब तरफ संतोष फैलेगा, व्यर्थ की स्पर्द्धा नष्ट होगी, ईर्ष्या जाती रहेगी, कोई भूखों न मरेगा, जन्म-मरण में संतुलन रहेगा, व्याधियाँ कम होंगी और युद्ध बंद होंगे। अगर शुद्ध अहिंसा-धर्म का वास्तविक पालन होता हो तो राजा और हाकिम प्रभुत्व या सिरजोरी करें, वैश्य महल-मंजिल बनावें और मूल्यवान वस्त्रों तथा आभूषणों से लदे रहें और ज्ञानदाता शिक्षक तथा मेहनत करने वाले कारीगर और मजदूर खानाबदोश होकर रोटियों के लिए मोहताज हो जायँ—ऐसी दया-जनक स्थिति नहीं होनी चाहिए।'

विशेष वक्तव्य—हमारे बहुत से भाई अहिंसा का अर्थ केवल जीव-हिंसा न करना ही समझते हैं। उनकी दृष्टि में ज्यों-ज्यों व्यापार में जीव-हिंसा बढ़ती है, वह व्यापार अधिक नीचे की श्रेणी का है। और यदि जीव-हिंसा न हो तो व्यापार अहिंसक ही माना जायगा, चाहे उसमें कितना ही असत्य, धोखेबाजी, छल-कपट, घूसखोरी या रिश्वत और शोषण आदि क्यों न हो। यह दृष्टि गलत है। श्री जमनालाल जैन ने ठीक ही कहा है—'व्यापार कोई हो, उसकी अहिंसा केवल जीव-घात न करने तक ही सीमित नहीं है। उस अहिंसा का क्या मूल्य

---

* श्री किशोरलाल मश्रूवाला।

जिससे श्रम नष्ट होता हो और जो राष्ट्र-निर्माण के लिए घातक हो ! और असत्य तथा परिग्रह को पुष्ट करने वाली अहिंसा भी क्या हिंसा नहीं है ? वही व्यापार अहिंसक हो सकता है, जिससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है, मनुष्य के स्वावलम्बन का विकास होता है। केवल जीवों की हिंसा से बचाने वाली अहिंसा, अहिंसा नहीं बल्कि अहिंसा की विडम्बना है। और इस दृष्टि से किया जाने वाला व्यापार, व्यापार नहीं बल्कि लूट है, अत्याचार है।'*

———

बीसवाँ अध्याय

अहिंसा और धर्म

आप मेरी सारी जिन्दगी को गौर से देखिये; मैं कैसे रहता हूँ, कैसे खाता हूँ, कैसे बैठता हूँ, कैसे बातचीत करता हूँ, और आम तौर पर मेरा बर्ताव कैसा रहता है, सो आप पूरी तरह देखिए। इन सब को मिला कर जो छाप आप पर पड़े, वही मेरा धर्म है। आने वाले जमाने पर सबसे ज्यादा असर मजहब का रहेगा।

—गांधी जी

सच्ची आराधना इसमें नहीं कि हम मंदिरों में जायँ, वरन् इसमें है कि हम अपने पड़ोसी से सच्चा प्रेम करें।

—विनोबा

इस अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि धर्म की दृष्टि से लोगों में पहले की अपेक्षा हिंसा कितनी कम हुई है : दूसरे शब्दों में अहिंसा कितनी बढ़ी है। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि अभी इस दिशा में और क्या-क्या करना अभीष्ट है।

धर्म के नाम पर होने वाली पशु-बलि—धर्म की भावना का मनुष्य में किस प्रकार उदय हुआ, इसके सम्बन्ध में विविध मत हैं। तथापि इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन काल में आदमी अदृष्ट या अज्ञात शक्ति की कल्पना करके उससे भयभीत होता था। इसलिए वह अनेक भूत-प्रेतों और देवी-देवताओं को मानता था। उस समय वह जंगल में रहता और शिकार पर निर्वाह करता था। उसने देवी देवताओं को खुश करने के लिए जानवरों को मार कर उनकी भेंट चढ़ायी। इस प्रकार धर्म के नाम पर जानवरों की कुरबानी खूब होती थी। कुछ दशाओं में आदमी ने दूसरे आदमी को खास कर बच्चे को

मार कर उसकी भेंट चढ़ायी। आज भी धर्म के नाम पर कहीं-कहीं कुछ कुरबानी होती है, पर अब यह कम है। इसका कारण कुछ तो यह भी है कि खेती का आविष्कार हो जाने पर आदमी को एकमात्र मांस पर निर्भर रहना नहीं पड़ता और उसकी मांस खाने की आदत कम हो गयी है। पर इसके अतिरिक्त वैसे भी अब धर्म के नाम पशु-बलि क्रमशः कम हो चली है। नर-बलि तो किंचित ही होती है।

दूसरे धर्म वालों से व्यवहार—पहले आदमी छोटे-छोटे समूहों में रहते थे। एक समूह के आदमियों का अपना अलग देवी-देवता होता था और अलग ही मंदिर-मसजिद होती थी। इससे जहाँ उस समूह के आदमियों में प्रेम और एकता थी, उन लोगों का अपने समूह के बाहर के आदमियों से—जो दूसरे देवी-देवता आदि मानते थे—बैर-विरोध, लड़ाई-झगड़ा होता था। अब वह बात बदल गयी। लाखों और करोड़ों आदमी एक देश में रहते हैं, उनमें बहुत कुछ सहयोग होता है। एक-एक धर्म को मानने वाले पहले की तरह सैकड़ों में सीमित नहीं रहते, वे लाखों और करोड़ों होते हैं। इस प्रकार इतने बड़े समुदायों में भी धार्मिक एकता होने से पहले की विरोध भावना नहीं रहती। फिर, अब प्रत्येक देश में जुदा-जुदा धर्म के मानने वाले पास-पास ही रहते हैं। यद्यपि इनमें कभी-कभी कुछ मनोमालिन्य और संघर्ष हो जाता है, पर अब यह बहुत असभ्यता और पिछड़ेपन की बात मानी जाती है। शिक्षित और समझदार आदमियों से यह आशा की जाती है कि दूसरे धर्म वालों की बात शान्ति से सुनें और विचार करें। इस प्रकार अनेक स्थानों में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ और धर्म-सम्मेलन बहुत व्यवस्थित रूप से हो जाते हैं; पहले इसकी कल्पना नहीं होती थी।

'धार्मिक' युद्ध—इतिहास में हम ऐसे युद्धों का भी हाल पढ़ते हैं, जिन्हें 'धार्मिक' युद्ध कहा गया है। मध्ययुग में यूरोप के कई-कई राज्यों के बहुत से सैनिक इकट्ठे होकर तुर्कों से अपने धार्मिक स्थान

फिलिस्तीन को मुक्त करने के लिए जाते थे। ये धार्मिक युद्ध (क्रूसेड) कई पीढ़ियों तक चले। इनमें हजारों आदमियों की जानें गयीं और लाखों आदमियों को तरह-तरह की मुसीबतें सहनी पड़ीं। अब धर्म के नाम पर ऐसे युद्ध होने की बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। अस्तु, वे धार्मिक युद्ध अब केवल इतिहास की वस्तु रह गये हैं। निश्चय ही यह बात अहिंसा की प्रगति की सूचक है।

धर्म-परिवर्तन—पहले आदमी अपने ही धर्म को सच्चा या सही मानते और दूसरे धर्मों को गलत समझते थे, और वे दूसरे धर्म वालों को अपने धर्म में लाना अपना कर्तव्य मानते थे। इसके लिए वे बल-प्रयोग करने से नहीं हिचकते थे। अब लोगों के मन से अपने धर्म वालों की संख्या बढ़ाने का मोह नहीं रहा है, यह तो नहीं कहा जा सकता, तथापि 'तलवार के बल से' धर्म-प्रचार करना अब गये-गुजरे जमाने की बात मानी जाती है। हाँ, धर्म-परिवर्तन के लिए पद-प्रतिष्ठा या पैसे का प्रलोभन अब भी अनेक स्थानों में दिया जाता है,—जो हिंसा का ही रूप है—पर यह भी अब सुरुचिपूर्ण नहीं माना जाता। अब तो लेखों या भाषणों द्वारा विचार परिवर्तन द्वारा ही अपने-अपने धर्म का प्रचार करना अच्छा समझा जाता है। वास्तव में प्रत्येक धर्म के प्रेमियों के लिए अपने सहधर्मियों की उन्नति करने का ही बहुत काम पड़ा है, उस ओर ध्यान न देकर दूसरे धर्मों की आलोचना और निन्दा में लगना और उन लोगों को अपने धर्म में लाने की प्रवृत्ति सर्वथा निन्दनीय है। हमारे धर्म के आदमियों का नैतिक चरित्र और रोजमर्रा का सामाजिक व्यवहार अच्छा न हुआ और उनकी संख्या कुछ बढ़ गयी तो इससे हमारे धर्म का गौरव कुछ बढ़ता नहीं, घटता ही है।

धर्म की मूल भावना को भुला देना हानिकर—यद्यपि प्रत्येक धर्म ने अपने-अपने देश-काल के अनुसार जनता को अहिंसा की शिक्षा और प्रेरणा दी है और उसके कारण एक सीमा तक निश्चित रूप से अहिंसा की प्रगति हुई है, हाँ पर कालान्तर में वह प्रगति बनी

नहीं रही। एक तो यह कि प्रायः प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने-अपने धर्म-ग्रंथ की बातों का अक्षरशः पालन करने वाले रह गये। उन्होंने उसकी वास्तविक भावना को भुला दिया या उसकी उपेक्षा की। इस प्रकार कार्य अविवेकता पूर्वक रूढ़ि-पालन का रह गया और जीवन-व्यवहार के लिए उससे अहिंसा की अच्छी प्रेरणा मिलने की बात जाती रही। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि हमारे अनेक भाई नित्य पूजा-पाठ करते हैं, मंदिर-मस्जिद में नियम-पूर्वक जाते हैं, समय-समय पर कुछ दान-पुण्य या खैरात करते हैं, व्रत, उपवास या रोजा रखते हैं। पर ये महानुभाव यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि अपने रोजमर्रा के आपसी व्यवहार में कितनी हिंसा करते-कराते रहते हैं। धर्म को कुछ खास रीति-रस्मों या कर्मकांड में सीमित रखने से उसका अहिंसा या प्रेम का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। वास्तव में धर्म तो जीवनव्यापी होना चाहिए। कुछ खास-खास दिनों का न होकर हर रोज का होना चाहिए, और सवेरे शाम के कुछ खास घंटों का न होकर चौबीस घंटों का होना चाहिए। इस प्रकार हमें धर्म द्वारा अहिंसा का विचार अपने प्रत्येक कार्य में और प्रत्येक व्यवहार में मिलते रहना चाहिए।

धर्म को संकुचित या स्वार्थमय बनाना ठीक नहीं— प्रायः आदमी धर्म से मिलने वाली अहिंसा या प्रेम की शिक्षा को अपने एक बहुत ही सीमित क्षेत्र में काम में लाते हैं। आदमी उसे व्यापक मानव समाज में काम में न लाकर उसे साम्प्रदायिक चीज बना लेते हैं। अपने सम्प्रदाय की छोटी-बड़ी दुनिया से बाहर के आदमियों को उसका लाभ नहीं पहुँचाते। यह बात कम-ज्यादा सभी धर्मों के सम्बन्ध में लागू होती है। हिन्दू धर्मावलम्बी हिन्दू और गैर-हिन्दू का विचार करता है, मुसलमान मुस्लिम और गैर-मुस्लिम में भेद-भाव करता है, ईसाई अपने प्रेम का अधिकारी केवल ईसाइयों को ही समझता है। यही नहीं, इन धर्मों में से प्रत्येक के अनेक भेद-उपभेद हैं और किसी एक भेद-उपभेद का अनुयायी दूसरे भेद-उपभेद के अनुयायी को गैर

या पराया मान कर उसके प्रति यथेष्ट अहिंसा का व्यवहार नहीं करता। अनेक बार तो एक धर्म के छोटे से उपभेद को मानने वाले सब आदमी भी आपस में सद्भावना का परिचय नहीं देते। जब एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ से टकराता है तो धर्म की बात भुला दी जाती है, अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लग जाते हैं। युद्ध के प्रसंग में आदमी अपने अपने राष्ट्र की बात सोचने लग जाते हैं, अहिंसा को तिलांजलि दे दी जाती है, यहाँ तक कि वे अपने उन सहधर्मियों की हिंसा करने में भी कोई कसर नहीं करते 'जो दूसरे राष्ट्र के' हों यह कितना अनर्थकारी है, स्पष्ट ही है।

विशेष वक्तव्य—वर्तमान अवस्था में विविध धर्मों के कारण अनेक स्थानों में, समाज में अहिंसा का उतना व्यवहार नहीं हो रहा है, जितना होना चाहिए। यही नहीं, कुछ दशाओं में तो धर्म के नाम पर ही बहुत हिंसा हो रही है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि विविध धर्मों ने—कुछ सीमित रूप में ही सही—समाज में अहिंसा के प्रचार में कुछ सहायता नहीं दी। प्रायः प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे महानुभाव हैं जो उस धर्म के प्रति सच्चे होने के लिए सभी धर्म वालों के प्रति अहिंसा, सेवा और प्रेम की भावना रखते हैं चाहे ऐसे करने के कारण उन्हें अपने कुछ सहधर्मियों का कैसा ही विरोध क्यों न सहना पड़े। आशा की जाती है कि इस प्रकार के सच्चे धर्मानुयायी आगे-आगे अधिक संख्या में होंगे और अहिंसा की प्रगति में अधिकाधिक भागीदार बनेंगे।

———

इकीसवाँ अध्याय

अहिंसा और सभ्यता

आज की सभ्यता में मनुष्यों का उद्योग-धंधा, व्यापार, आमोद-प्रमोद केवल पशुओं की हिंसा पर ही नहीं, हजारों मनुष्यों की हत्या, लाखों की भूख तथा करोड़ों के शोषण तथा भयंकर शस्त्र-सामग्री और यंत्रों के निर्माण पर निर्भर है।

—किशोरलाल मश्रूवाला

पूर्ण सभ्यता वह है, जहाँ वाहरी और भीतरी दोनों ही दृष्टि से समाज का विकास हुआ हो। यदि हम वाहरी वातों में वहुती आगे वढ़ जाते हैं, पर नैतिक दृष्टि से गिरे हुए हैं तो हमार सभ्यता अपूर्ण है, अधूरी है।

—प्रेमनारायण माथुर

इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि वर्तमान सभ्यता में अहिंसा की क्या स्थिति है, और उसमें क्या परिवर्तन या सुधार होन चाहिए।

सभ्यता का अर्थ—यहाँ सभ्यता से हमारा आशय अपने समाजिक जीवन की वाहरी वातों से—खानपान, वेशभूषा, मनोरंजन, खेल-कूद, साहित्य, कला-विज्ञान, उद्योग-धंधे, व्यापार आदि से है। यह सभ्यता समय-समय पर वदलती रहती है। और जुदा-जुदा प्रदेशों में यातायात या आमदरफ्त यथेष्ट न होने से उनकी सभ्यता जुदा-जुदा हाती है। अस्तु, सभ्यता में खासकर भौतिक उन्नति करने तथा आवश्यकताएँ वढ़ाने की ओर दृष्टि रहती है। मनुष्य ने अपना शारीरिक सुख वढ़ाने तथा पशु-जीवन से वर्तमान अवस्था में आने के जितने कार्य किये हैं, उन सब का विवेचन सभ्यता का इतिहास है।

रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने से हिंसा—ज्यों-ज्यों आदमी इस सभ्यता के प्रवाह में अधिक आता है, वह यह चाहने लगता है कि मैं दूसरों की निगाह में अच्छा, सुन्दर दिखायी दूँ; समाज में मैं बड़ा आदमी समझा जाऊँ, अधिक-से-अधिक आदमी मेरा आदर करें, मुझे खूब मान-प्रतिष्ठा मिले। इसके लिए वह यथा-सम्भव कृत्रिमता, बनावट या सजावट आदि का सहारा लेता है। वह जैसे भी बने अपना रहनसहन का दर्जा ऊँचा रखने को कोशिश करता है। इससे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, उनको पूरी करने में उसकी शक्ति और समय बहुत अधिक खर्च होता है; स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। इससे उसको दूसरों की सेवा या सहायता करने का अवसर नहीं मिलता या कम मिलता है; यही नहीं, वह अपने शौक, विलासिता आदि के लिए दूसरों की उचित मांगों का ध्यान नहीं रखता, और अनावश्यक हिंसा में प्रवृत्त होता है।

सभ्य लोगों का भोजन और हिंसा—आज कल सभ्य कहा जाने वाला व्यक्ति अपने भोजन में यह दृष्टि कम रखता है कि वह उसके शरीर के लिए कहाँ तक हितकर है, उसका मुख्य लक्ष्य तो यह रहता है कि वह जीभ को अधिक स्वाद लगने के अतिरिक्त दूसरों को बढ़िया दिखायी दे। इसलिए वह प्रायः खाद्य पदार्थों का बहुत सा आवश्यक और उपयोगी तत्व फेंक देता है, और अपना भोजन इस प्रकार तैयार करता है जिससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ता है और वह बीमार पड़ता है। यह सभी जानते हैं कि बीमार आदमी अपने कर्तव्यों का ठीक पालन नहीं कर सकता और उससे दूसरों को भी कष्ट या असुविधा होती है। इस प्रकार सभ्य लोगों का भोजन समाज में हिंसा बढ़ाने वाला है।

पोशाक और हिंसा—सब जानते हैं कि सभ्य आदमी कई प्रकार के कई-कई बढ़िया जोड़ी कपड़े रखते हैं, जिन्हें समय-समय पर

बदल कर वे अपना वैभव दिखाया करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सभ्यता में आदमी अपनी पोशाक के पीछे कितना पागल है। परिग्रह आदि के कारण इसमें हिंसा होती ही है।

अब एक और बात लीजिये। पहले कहा जा चुका है कि कपास का आविष्कार और विज्ञान की उन्नति होने से अब मनुष्य ऐसी स्थिति में है कि यदि वह सादगी और संयम से काम ले तो उसे अपने वस्त्रों के लिए जीव-हिंसा की आवश्यकता नहीं है। पर सभ्य आदमी की बात दूसरी है। उदाहरण के लिए ये लोग मुलायम और आकर्षक रेशमी कपड़े पहनते हैं। रेशम के कीड़े शहतूत के पेड़ पर पाले जाते हैं, जिनके पत्ते खाकर वे जीवित रहते हैं। इन कीड़ों के बच्चों की रक्षा के लिए इनके चारों ओर एक कोमल पदार्थ का खोल रहता है, बच्चे बड़े होने पर अपने खोल को तोड़कर बाहर निकल आते हैं। इन टूटे हुए खोलों से भी रेशम तैयार होता है, पर वह इतना अच्छा, बढ़िया नहीं होता। बढ़िया रेशम के लिए कीड़ों के बड़े होने से पहले ही उनके खोलों को उबलते हुए गर्म पानी में डाला जाता है, इस प्रकार लाखों कीड़ों को मार कर थोड़ा सा बढ़िया रेशम तैयार होता है। स्पष्ट है कि रेशमी कपड़े पहनने वाले आदमी कितनी अनावश्यक हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं।

खास कर यूरोप अमरीका की शौकीन स्त्रियाँ अपनी पोशाक में ऐसे पक्षियों के पर लगवाती हैं जो बहुत दुर्लभ होते हैं। उनके इस फैशन के वास्ते दूर-दूर तक तलाश करने पर मिलने वाले तरह-तरह के हजारों बेजबान पक्षियों को अपनी जान खोनी पड़ती है।

चमड़े का उपयोग और हिंसा—पहले आदमी अपने जूतों आदि के लिए उसी चमड़े का उपयोग करते थे, जो स्वयं, कुदरती तौर पर मरने वाले पशुओं से मिल जाता था। सभ्य आदमी को उससे संतोष नहीं। वह तो बढ़िया मुलायम चमड़ा चाहता है, और यह पशुओं को मारने से ही मिलता है। फिर अब चमड़े का उपयोग भी बहुत

अधिक होता है। आज कल सभ्यता की लहर में आदमी अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाते जा रहे हैं, और व्यापारी वर्ग इसमें उनका सहायक हो रहा है। निदान, अन्य वस्तुओं के साथ अब चमड़े की बहुत सी चीजें बनने लगी हैं—हैंडबेग (बक्स), मनीबेग (रुपया पैसा रखने का पर्स या बटवा), दस्ताने (हाथों के मौजे), बिस्तर-बँद, जूते के फीते, घड़ी के फीते, चश्मों के केस, कापी या किताब के कवर, हंटर, टोपी को पट्टी आदि। इन चीजों के बनाने के लिए चमड़ा तैयार करने में प्रत्येक देश में कितने पशुओं की हत्या हर रोज की जाती है, इसका पाठक अनुमान करलें। यह सभी हत्या अनावश्यक है, कारण कि इसके बिना मनुष्य का काम चल सकता है, जो चीजें इस चमड़े से बनायी जाती हैं वे अन्य पदार्थों की बनायी जा सकती हैं। जो आदमी चमड़े से परहेज करते हैं, वे अपना काम दूसरे पदार्थों की बनी हुई चीजों से निकालते ही हैं।

रोमांचकारी हत्याएँ—ऊपर कहा गया है कि चमड़े की वस्तुओं का उपयोग बढ़ने से पशु-हत्या बहुत बढ़ गयी है। इसके अलावा विचारणीय बात यह भी है कि हत्या का ढङ्ग भी बहुत रोमांचकारी हो गया है; पशुओं को बहुत क्रूरता पूर्वक मारा जाता है। बात यह है कि साधारण तौर से पशु को एक दम मार देने से, उससे चमड़ा इतना मुलायम और बढ़िया नहीं मिलता, जितना आज का सभ्य और शौकीन आदमी चाहता है।

जिस चमड़े से बूट, चप्पल, बक्स और हंटर बनाये जाते हैं, उसको प्राप्त करने के लिए बूढ़े बैलों, गाय, भैंस आदि पशुओं को पानी के नल के नीचे खड़ा करके उसके मुँह, पाँव और सिर को मजबूती से बाँध दिया जाता है, जिससे पशु बिलकुल हिल-डुल न सके और दर्द से कराह भी न सके। पश्चात् पशु पर नल द्वारा पानी छिड़का जाता है और उसे खूब लचकदार बेंत से पीटा जाता है। इससे उसका शरीर सूजकर फूल जाता है, चमड़ा नर्म और मोटा हो

जाता है। उस पर कसाई पैनी कटार लेकर पशु के माथे में चुभो कर उसके शरीर के ठीक बीचों बीच चीरता हुआ पूँछ तक पहुँच जाता है, और उसकी खाल उतारता है।

इससे कुछ अच्छे चमड़े के लिए निर्दयता और अधिक की जाती है। जितना बढ़िया और मुलायम चमड़ा तैयार करना हो, उतना ही उसके लिए अधिक नृशंसता और अमानुषिकता बर्ती जाती है। जिसे काफ-लेदर (बछड़े का चमड़ा) या 'क्रोम लेदर' कहा जाता है उसके लिए तो जवान हृष्ट-पुष्ट बछड़ों को मारा जाता है। पहले उन्हें धीरे-धीरे परन्तु बहुत देर तक पीटा जाता है, जिससे रक्त का संचार खूब तेजी से होने लगे। फिर उन्हें चारों तरफ कटघरे में बंद करके उसे एक कांटेदार मशीन के ठीक नीचे खड़ा कर दिया जाता है। मशीन का पहिया घूमता है और जीवित बछड़े की खाल उधेड़ ली जाती है। पीछे कसाई अपनी छुरी से बछड़े को काटकर मांस के टुकड़े बना लेता है। इस निर्दयता से तैयार होने वाले चमड़े की चीजें दूसरे लोग तो इस्तेमाल करते ही हैं, अपने आप को अहिंसक समझने वाले अनेक सभ्य और शौकीन लोग भी करते है।*

चमड़ा रंगने के लिए पशुओं के खून का उपयोग— पहले जब स्वाभाविक मौत से मरे पशुओं का चमड़ा काम में लाया जाता था तो वह वृक्षों की छाल से ही रंग लिया जाता था। परन्तु जब से चमड़ा पशुओं को मारकर तैयार किया जाने लगा है, तब से उसकी बढ़िया चीजों को खून से रंगना आरम्भ हो गया। यह रंग पक्का होता है। खून निकालने के लिए मशीनें होती हैं। स्वस्थ गाय या जवान बछड़े-बछड़ियों को मशीन के पास खड़ा कर दिया जाता है और औजार से उनकी नस काट कर मशीन की नलकी लगादी जाती है। धीरे-धीरे मशीन शरीर का सारा खून खींच लेती है और दो-तीन घंटे बाद वह पशु चल बसता है।* इस प्रकार बढ़िया चमड़े ने

* श्री कामताप्रसाद डी० एल० के लेख से संकलित

पशु-हत्या बढ़ायी ही, उसके रंगे जाने के लिए भी यह हिंसा बढ़ी। आदमी अपने फैशन और शौकीनी को कम करे और आधुनिक समाज में सभ्य वर्ग में न गिने जाने को तैयार हो जाय तो यह हिंसा सहज ही बन्द हो सकती है।

उद्योग-धंधों आदि में हिंसा—उद्योग-धंधों तथा व्यापार में आज कल कितनी हिंसा होती है, इसका विचार पहले किया जा चुका है। भौतिक सभ्यता में आदमी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, वह अधिकाधिक हिंसक होता जाता है। कुछ दशाओं में उसे इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। अर्थ-व्यवस्था अब इतनी जटिल है कि उसमें होने वाली प्रत्येक क्रिया और उसका प्रभाव अनेक बार ठीक दिखायी नहीं देता। परन्तु जब वह दिखायी भी देता है, तब भी स्वार्थ के वशीभूत हुआ आदमी उसे छोड़ नहीं पाता। व्यक्ति अपनी निजी आमदनी बढ़ाने के चक्र में है, और राष्ट्र अपनी समृद्धि बढ़ाने की होड़ कर रहे हैं। फल-स्वरूप हिंसा बढ़ना स्वाभाविक ही है।

स्थानीय वस्तुओं के उपयोग की आवश्यकता—विविध पदार्थों के उत्पादन या व्यापार में होने वाली हिंसा का दायित्व उन वस्तुओं के उपयोक्ताओं पर है। यदि वे उन पदार्थों का उपयोग न करें तो उत्पादक और व्यापारी उन्हें बनावें और लायें-लेजायेंगे ही नहीं। इसलिए उपयोक्ताओं को बराबर यह सोचते रहना चाहिए कि उनके उपयोग में आने वाले पदार्थों की उत्पादन-विधि कैसी है, उसमें श्रमियों का शोषण तो नहीं किया गया है, अथवा उनकी उत्पादन-विधि समाज में बेकारी तो बढ़ाने वाली नहीं है—जो बेकारी छल-कपट, चोरी, भिक्षा-वृत्ति और हत्या आदि की जननी होती है। क्योंकि आदमी अपने नजदीक के बने हुए माल की ही उत्पादन की विधि को आसानी से जान सकता है, इसलिए आवश्यक है कि हमें दूर-दूर के माल का उपयोग करना ठीक नहीं, हमें यथा-सम्भव स्थानीय तथा

विकेन्द्रित पद्धति से बनने वाले पदार्थों का ही उपयोग करना चाहिए। क्रय-विक्रय का आदि और अन्त केवल वस्तु को ले लेने और उसकी कीमत चुका देने से ही नहीं हो जाता, इसके अतिरिक्त उसमें हमारे अपने पड़ोसियों के प्रति पालन किये जाने वाले कर्तव्यों के विचार का भी समावेश होता है। जो आदमी किसी वस्तु को खरीदता है, वह उसके साथ उससे संलग्न सब नैतिक मूल्यों को भी लेता है। अगर कोई आदमी चोरी का माल खरीदता है तो वह अंशतः उसके अपराध का भागी होता है। इसलिए प्रत्येक उपभोक्ता को हर समय अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व का ध्यान रखना चाहिए।*

गम्भीर विचार की आवश्यकता—वर्तमान समाज में अहिंसा का प्रश्न सीधासादा नहीं रह गया है। श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने ठीक कहा है—'घनी आबादी वाले बड़े-बड़े शहर बसाना, आधुनिक सभ्यता का आरामदेह जीवन बिताने की हविस रखना, और साथ ही अहिंसा-व्रत का पालन करना—ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं की जा सकतीं। आज की सभ्यता में मनुष्यों का उद्योग-धन्धा, व्यापार, आमोद-प्रमोद केवल पशुओं की हिंसा पर ही नहीं, हजारों मनुष्यों की हत्या, लाखों की भूख तथा करोड़ों के शोषण तथा भयंकर शस्त्र-सामग्री और यंत्रों के निर्माण पर निर्भर है। वास्तव में रेशम, मोती, दवाओं आदि का व्यापार करने वाले, तरह-तरह के कारखाने चलाने वाले जब कुत्तों, बिल्लियों और कबूतरों को बचाने की बात करते तथा टिड्डी-दल के नाश का विरोध करते हैं तो यह अहिंसा धर्म की विडम्बना ही है।.... अगर महाजन लोग सचमुच अहिंसा-धर्म पर चलने की इच्छा रखते हैं तो उन्हें सर्व प्रथम अपनी सम्पत्ति, व्यापार और आय की मर्यादा बाँध लेनी चाहिए और वह इस तरह कि जो सुख और आराम वे आज

---

* Christianity; Its economy and way of life के आधार पर।

भोग रहे हैं उसमें कमी हो, तथा फिर धीरे-धीरे इस मर्यादा को वह और अधिक कसते जायँ।'*

सभ्यता सम्बन्धी मान्यता बदली जाय—वर्तमान सभ्यता में हिंसा का इतना दौर-दौरा होने से स्पष्ट है कि हमें इस सभ्यता को तिलांजलि देनी चाहिए, अर्थात् हमें सभ्यता सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करना चाहिये। हम इस बात में सभ्यता न मानें कि दूसरों की दृष्टि में हमारा जीवन बढ़िया या ऊँचे दर्जे का मालूम हो, और इस लिए हम भोग-विलास, कृत्रिमता और आरामदेही का जीवन बितावें, बल्कि हमें सभ्यता इस बात में माननी चाहिए कि हृदय में विशालता हो, हम दूसरों से यथेष्ट प्रेम करें, उनकी सेवा सहायता करना अपना कर्तव्य समझें। इस प्रकार हमारी सभ्यता का माप हमारी मानवता, इनसानियत भाईचारे या विश्वबंधुत्व की भावना—दूसरे शब्दों में अहिंसा की दिशा में बढ़ने में प्रयत्न हो।

---

*'हरिजन-सेवक', १० मई १९५२.

बाइसवाँ अध्याय

अहिंसा और मनोरञ्जन

भौतिक प्रगति से लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ीं। भोजन के अलावा शिकार आदि के आनन्द के लिए, वस्त्र-आभूषण आदि नये-नये शौकों के लिए भी हिंसा का क्षेत्र बढ़ा।

—सुखलाल

मानव जीवन में मनोरंजन का महत्वपूर्ण स्थान है। समय-समय पर आदमी अनेक प्रकार से अपना मनोरंजन करता रहा है, हमें यहाँ यही विचार करना है कि उसमें वह कहाँ तक अहिंसा की दृष्टि रखता है और कहाँ इसकी अवहेलना करता है।

मनुष्य-घातक उत्सव—आदमी खासकर भोजन-वस्त्र के लिए हिंसा करे, यह तो सब कल्पना कर सकते हैं, पर अनेक दशाओं में जब मनुष्य को भोजन-वस्त्र के लिए हिंसा की आवश्यकता न रही, तब भी वह अहिंसक नहीं हुआ। वह शिकार और मनोरंजन के लिए हिंसा करता-कराता रहता है—केवल पशुओं की ही नहीं, मनुष्यों की भी। उदाहरण के लिए जब रोम साम्राज्य का वैभव उन्नति के शिखर पर था, वहाँ के सेनापति-सम्राट् विदेशों से विजय करके लौटते थे, या दूसरे बड़े उत्सव होते थे तो वहाँ के मनोरंजन के कार्यक्रम का एक खास अंग यह भी होता था कि खास तौर से बनवाये हुए विशाल अखाड़ों में शस्त्रधारी पहलवानों (ग्लेडियेटरों) की कुश्ती हो, प्रत्येक दूसरे पर हर तरह का आघात करने के लिए स्वतंत्र हो। कौन पहलवान कैसी होशियारी से अपने प्रतिद्वन्दी पर आघात करता है, या बुरी तरह जख्मी होकर भी अपने चेहरे पर कष्ट की छाया नहीं आने देता—इसे हजारों नागरिक खुले-आम देखते थे, सहन करते थे। इसमें उन्हें कोई

अमानवी बात मालूम नहीं होती थी। वे इसमें आनन्द लेते थे। आज हमें ऐसी बातों पर आश्चर्य होता है। अब की सभ्यता में मनुष्य-घातक मनोरंजन कम हैं तो पशु-पक्षी-घातक मनोरंजन के तो अनेक उदाहरण हैं।

पशु-घातक मनोरंजन; शिकार—कहा जाता है कि प्राचीन रोम में नीरो नामक सम्राट् ने नगर में आग लगवायी थी, जिससे वह देख सके कि आग में झुलसते और जलते हुए व्यक्ति कैसे हाव-भाव प्रकट करते हैं। जब नगर जल रहा था तो नीरो आनन्द से वंशी बजा रहा था। यह बात सत्य हो या न हो, हम अपने जमाने में देख रहे हैं कि अनेक आदमी जहाँ तक पशु-पक्षियों का सम्बन्ध है, छोटे-मोटे 'नीरो' का ही रूप धारण किये हुए हैं। क्या वे शिकारी एक प्रकार से नीरो का सा ही काम नहीं कर रहे हैं, जो जानवरों का शिकार इसलिए नहीं करते कि उन्हें खाने के लिए उनके मांस की जरूरत है, बल्कि केवल अपने मनोरंजन के लिए करते हैं। वे यह देखना चाहते हैं कि जख्मी होने पर जानवर क्या करता है, उसकी कराहने की आवाज कैसी होती है, और वह किस प्रकार अपने प्राण छोड़ता है। ये शिकारी अपनी विजय या सफलता पर प्रसन्न होते हैं और यार-दोस्तों में अपनी वीरता का राग अलापते हैं। अफसोस! इनकी वीरता दूसरों के प्राण लेने में—हिंसा में है, दूसरों की रक्षा करने में आवश्यकता हो तो अपने को जोखम में डालकर तथा अपने प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करने में—अहिंसा में—नहीं है। अनेक स्थानों में मनुष्य द्वारा मनुष्य का भी शिकार होता रहा है।

पशु-पक्षियों को लड़ाने में मज़ा—और लीजिए। आदमी से आशा तो यह की जाती है कि वह आपस में लड़ते हुए पशु-पक्षियों को एक दूसरे से दूर करके उनकी लड़ाई बन्द कर दे। परन्तु अनेक आदमी तो उन्हें जान-बूझ कर लड़ाते हैं, और अगर वे पशु-पक्षी

किसी कारण अपनी लड़ाई बन्द भी करने लगें तो ये भले आदमी इन्हें बार-बार लड़ने को उकसाते हैं, प्रोत्साहन देते हैं, क्योंकि उनके जख्मी होने पर इन्हें आनन्द आता है। इस प्रकार सांडों की लड़ाई, मेंढों की लड़ाई, सांप और नेवले की लड़ाई, तीतरों की लड़ाई और मुर्गों आदि की लड़ाई प्रचलित है। छोटे बालक कभी-कभी पिल्लों (कुत्ते के बच्चों) को आपस में लड़ाया करते हैं; उनको क्या कहें, जबकि कितने ही आदमी बड़ी उमर के होकर और बहुत समझदारी का दावा करते हुए बालकों जैसा काम करते हैं। अपनी उमर के इतने वर्ष बिता कर इन्होंने अहिंसा में उन बालकों की अपेक्षा क्या प्रगति की ?

मुर्गेबाजी—इन हिंसक मनोरंजनों का इतिहास बहुत पुराना है, इन्हें कला माना गया है, कुछ दशाओं में इन्हें विद्यार्थियों के लिए बहुत आवश्यक समझा गया है, यह आगे दिये हुए मुर्गेबाजी के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। श्री राधेश्याम झिंगन ने लिखा है—'मुर्गेबाजी भारतवर्ष में एक कला के रूप में चली आयी है। वात्सायन ने अपने कामसूत्र में इसकी गणना चौसठ कलाओं में की है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसीसे कर सकते हैं कि मोहन-जोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर लड़ते हुए दो मुर्गों का चित्र अंकित है। भारत के उस स्वर्ण-काल में वेश्याएँ मुर्गों के दंगल कराती थीं, जिनमें सर्वसाधारण से लेकर बड़े-बड़े सामंत भी आमंत्रित होते थे। राजकुमार भी इस कला में पारंगत होते थे। उस काल की मुर्गेबाजी देखकर ऐसा लगता है जैसे यह कला विद्यार्थियों को "नितान्त आवश्यक विषय" की भाँति पढ़ाई जाती थी। राजा से लेकर रंक तक मुर्गेबाजी का आनन्द लेते थे। लखनऊ के नवाबों ने तो इसे चरम सीमा पर ही पहुँचा दिया था। शहनाई, पटह आदि अनेक प्रकार के बाजों के साथ लोग मुर्गों को लेकर अखाड़े में आते, दंगल होता, बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगतीं। विजयी मुर्गे का गाजे-बाजे के साथ जलूस निकलता, हजारों व्यक्तियों का मनोरंजन होता था। प्रियदर्शी अशोक ने मुर्गे

लड़ाने का निषेध किया था, मगर इसलिए कि लोग मुर्गे के पंजों में छोटी-छोटी छुरियाँ बाँध देते, मदिरा पिलाते और फिर लड़ाते थे। इसमें मुर्गों की हत्या होती थी।'* इसी प्रकार पशु-पक्षियों की मनुष्य द्वारा करायी जाने वाली अन्य खूनी लड़ाई के विषय में लिखा जा सकता है। पर यहाँ इसीसे संतोष किया जाय।

एक शिक्षाप्रद घटना—झरिया का ता० २६ दिसम्बर १६५६ का समाचार है। यहाँ एक गाँव में मुर्गे की लड़ाई का आयोजन किया गया था। मुर्गों की टांगों में कस कर तेज छूरे बांध दिये गये थे। लड़ाई के दौरान एक मुर्गे ने झपट कर अपने टांग में बंधे हुए छुरे से अपने प्रतिद्वन्द्वी मुर्गे के अधिकारी को हलाल कर दिया। इस मुर्गा-लड़ान का आयोजन धर्मानन्द कोयला खदान के समीप किया गया था।

इस घटना में हम मनुष्य के लिए एक चेतावनी पाते हैं। पक्षी अपनी मौन भाषा में कह रहा है—'बुद्धिमान और उच्च श्रेणी का होने का गर्व करने वाले मनुष्य! तुझे यह शोभा नहीं देता कि हमें शस्त्रों द्वारा कृत्रिम रूप से हिंसक बना कर हमारी एक-दूसरे से हत्या कराये। इस निन्दनीय और अमानवीय दुष्कर्म को छोड़, अन्यथा हम तुझे ही अपने कोप का शिकार बनायेंगे।' आशा है मनुष्य इस पर ध्यान देगा।

वर्तमान स्थिति—हिंसक मनोरंजन की दृष्टि से हमारी वर्तमान स्थिति क्या है? अब मनुष्य-घातक उत्सवों का, जो किसी समय सभ्य कहे जाने वाले रोम में बहुत प्रचलित थे, आधुनिक सभ्य समाज में कोई स्थान नहीं है। वे अब इतिहास की वस्तु हैं। हाँ, कुछ स्थानों पर घूँसेबाजी (बाक्सिंग) का चलन हो गया है, कहीं गतकाफरी होती है, और कहीं लाठी चलाने की प्रतिद्वन्द्विता होती है। इनमें काम में लाये जाने वाले साधन शस्त्रों की तरह घातक नहीं होते, तो भी हिंसक तो हैं

*'हिन्दुस्तान' ३० जून ५७

ही, और इन प्रतिद्वन्दिताओं में भाग लेने वाले जख्मी भी होते ही हैं। इस प्रकार स्पष्ट है, इन मनोरंजनों में हिंसा की मात्रा कम हुई है, किन्तु उसका अभाव नहीं हो पाया है। फिर आजकल सिनेमा, नाटक आदि में अनेक बार मार-पीट और हत्या या अपहरण आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं, जिन्हें देखने के लिए जगह-जगह हजारों पुरुषों और स्त्रियों की भीड़ लगी रहती है। इससे मालूम होता है कि आदमी में हिंसक कार्यों की ओर रुचि बनी हुई है, वह अब उन्हें वास्तविक रूप में नहीं देखता तो उसकी नकल देख कर संतोष कर लेता है।

तीतरबाजी और मुर्गेबाजी को देखने के लिए आदमियों की बड़ी-बड़ी भीड़ हो जाने से यह स्पष्ट है कि अभी तक आदमियों को हिंसक मनोरंजन में बहुत रुचि है। तथापि यह बात कुछ संतोषप्रद कही जा सकती है कि अब इन कामों में सभ्य प्रतिष्ठित आदमी बहुत कम भाग लेते हैं। सभ्य-शिक्षित आदमी इनमें क्रियात्मक भाग बहुत कम लेते हैं। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से अब पहिले की अपेक्षा हिंसा कम है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने हिंसा-मार्ग से मनोरंजन किये जाने के उदाहरण दिये हैं, जिससे आदमी इससे बचें। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक आदमी अहिंसा—सेवा और परोपकार आदि—द्वारा अपना मनोरंजन करने वाले भी हैं। वे निष्काम भाव से रोगियों की सेवा-सुश्रुषा करते हैं, असहाय और अनाथों को भरण-पोषण की सामग्री प्रदान करते, तथा अन्य विविध उपायों से समाज का स्तर ऊँचा उठाने में योग दे रहे हैं। ऐसा करने में उन्हें अनेक बार काफी कठिनाइयों और संकटों का सामना करना पड़ता है। फिर भी वे उन कार्यों में लगे रहते हैं, कारण उन्हें उसमें आनन्द आता है, उनका उससे मनोरंजन होता है। इस तरह की भावना और व्यवहार उत्तरोत्तर बढ़ते रहने की आवश्यकता है।

तेइसवाँ अध्याय

अहिंसा और शिक्षा

इस वात की सख्त जरूरत है कि आजकल की इस तालीम की जगह एक अधिक कुदरती, अधिक काम की, और अधिक सस्ती तालीम वच्चों को दी जाय, जो हर लड़के और लड़की को उसके लिए सवसे अच्छे, और सबसे दिल-पसन्द काम के काविल वना दे; वह तालीम जो वच्चों को जीवन के ठीक-ठीक आदर्श वतावे और हमारी मानव सभ्यता के इखलाकी और रूहानी वातावरण को वदल दे, इससे पहले कि हम वरवाद हों।

—डा० भगवान दास

वर्तमान काल में विद्यार्थियों से हिंसक व्यवहार में कमी— समाज में वालकों को शिक्षा देने की व्यवस्था चिर काल से है, और जुदा-जुदा देश-काल में शिक्षा की पद्धति कुछ अलग-अलग रही है। तथापि कुछ अपवादों को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि पहले सभी जगह वालकों के शिक्षण में शारीरिक दंड क्षम्य ही नहीं, आवश्यक और उपयोगी माना गया। भारत में नीतिकार ने कहा कि वालक को पाँच वर्ष तक लाड़-प्यार करो, फिर पन्द्रह वर्ष का होने तक (शिक्षा-काल में) उसकी ताड़ना करो। ग्रामीण भाषा में कहा गया—'छड़ी डोले छमछम, विद्या आवे धमधम।' अँग्रेजी में कहावत वन गयी 'स्पेअर दि राड एन्ड स्पोयल दि चाइल्ड' (डंडा दूर रखा कि वालक विगड़ा)। अव भी इन वातों में विश्वास करने वाले अध्यापकों तथा माता-पिताओं की कमी नहीं। तथापि यह विचार क्रमशः फैलता जा रहा है कि वालकों से वहुत सौम्य व्यवहार होना चाहिए; उन्हें मारना-पीटना क्या, डाटना-डपटना भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे उनके विकास में वहुत वाधा पहुँ-

चती है। अतः शिक्षण उन्हीं सुयोग्य शिक्षकों द्वारा होना जरूरी माना जाता है जो बाल-मनोविज्ञान वेत्ता हों और कठोर भाषा तक का व्यवहार करना भी निन्दनीय मानते हों। इस प्रकार अब सद्गृहस्थों में बालकों के नये-नये स्वाभाविक प्रश्न—जो कभी-कभी बड़ी उमर वालों को बड़े अटपटे प्रतीत होते हैं—करने पर उन्हें धमका कर चुप नहीं किया जाता, वरन् उनकी जिज्ञासा को प्रायः शान्ति-पूर्वक सन्तुष्ट किया जाता है। बालकों को उचित आदर-सम्मान का अधिकारी माना जाता है। अनेक स्थानों में उनके अधिकार-पत्र तैयार किये गये हैं, जिनकी ओर क्रमशः ध्यान दिया जाता है।

इस प्रकार बालकों की जिज्ञासा का समाधान करने और उन्हें शिक्षा देने में अब जो व्यवहार किया जाता है, वह अहिंसा की प्रगति का सूचक है पर वही तो काफी नहीं है। जरा शिक्षा के उद्देश्य का भी तो विचार करें।

आधुनिक शिक्षा अधिकतर स्वार्थ सिखाती है—आजकल शिक्षा का लक्ष्य प्रायः अच्छे नागरिक बनाना माना जाता है—चाहे शिक्षा-संस्था सरकारी हो, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त हो, या गैर-सरकारी हो। सब संस्थाओं को थोड़े-बहुत सरकारी नियमों का पालन करना होता है, सब को ऐसा ही पाठ्यक्रम रखना होता है, जो सरकार को ना-पसन्द न हो। इस प्रकार विद्यार्थियों से आशा की जाती है कि वे अपने नागरिक जीवन में सरकार-विरोधी प्रवृत्तियों में भाग न लें, भले ही सरकारी कार्य अहिंसा की दृष्टि से कितने ही अनुचित हों और समाज का शोषण करके उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि में सहायक हों। इस प्रकार विद्यार्थियों के सामने त्याग और सेवा का आदर्श न होकर स्वार्थ-साधन का विचार मुख्य होता है। आध्यात्मिक संस्कृति का उत्तराधिकारी और धर्म-प्रधान कहे जाने वाले भारत की ही बात लीजिए।

साधारणतया यही देखने में आता है कि स्कूल की शिक्षा पाया हुआ युवक अपने आपको गाँव के बड़े-बूढ़ों से भी ऊंचे दर्जे का मानता

है। कालेज में पढ़ाई कर चुकने वाला अपनी कीमत और अधिक आंकता है। जितना ज्यादा विद्वान, उतनी ही उसकी जरूरतें, अहङ्कार, स्वार्थ-भावना अधिक। उससे कोई शरीर-श्रम होता नहीं, शरीर-श्रम करने वालों के प्रति उसके मन में कोई ऊँची भावना होती नहीं। वह किसी की सेवा न कर दूसरों से सेवा लेने का ही अभिलाषी रहता है। उसमें स्वार्थ-वृत्ति बढ़ी हुई होती है और वह अपनी शिक्षा का उपयोग इसी में मानता है कि चतुराई, चालाकी से, बिना विशेष परिश्रम किये, अधिक-से-अधिक धन प्राप्त कर ले। एक प्रोफेसर साल में छः माह से भी कम* और महीने में प्रायः तीन सप्ताह और प्रति दिन दो-तीन घन्टे काम करके भी पाँच सौ रु० से लेकर हजार डेढ़ हजार रु० महीना चाहता है। शिक्षा पाकर जज, वकील, बैरिस्टर या डाक्टर आदि बनने वाले भी सब इसी श्रेणी के हैं। उद्योगपति या कारखाने के मालिक अपनी आय की कोई सीमा रखना ही स्वीकार नहीं करते। अपने आपको जनता का सेवक कहने वाले मन्त्री तथा अन्य सरकारी अधिकारी खूब वेतन और बड़े-बड़े भत्ते लेते हैं—यह जानते हुए भी कि जिस जनता की सेवा करने का वे दम भरते हैं, उसके अनेक आदमियों को दिन-रात कठोर परिश्रम करने पर भी भर पेट भोजन या आवश्यक वस्त्र नहीं मिल रहा है। हमें अपनी-अपनी फिक्र है, इस बात की कुछ फिक्र नहीं कि हमारे पड़ोस में हमारे भाई-बहिन किस दीनता का जीवन बिताते हैं।

* उत्तर-प्रदेश के अलीगढ़-विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान कक्षा के अध्ययन मण्डल ने अपने एक गम्भीर सर्वेक्षण के बाद बताया है कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कालेजों में एक वर्ष में १७१ दिन की छुट्टियां रहीं। इसके अलावा साल भर में कुल ५० दिन परीक्षाओं व सांस्कृतिक समारोह [नृत्य संगीत-नाटक-प्रहसन] आदि में खर्च हुए। और कालेज खुलने के बाद पूरा एक महीना विद्यार्थियों को भर्ती करने, नयी क्लासें जमाने, सामान की कमी पूरी करने आदि में खर्च हो गये। बाकी के सिर्फ एक सौ दिनों तक अर्थात् तीन महीना और दस दिन तक ही पढ़ाई हुई!

अहिंसा की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य—ऊपर भारत की बात कही गयी है, थोड़े-बहुत रूप में सब जगह ऐसी ही हालत है। स्पष्ट है कि यह शिक्षा संसार के लिए कल्याणकारी नहीं, विनाशकारी है; हम मानवता का विकास करने में सहायक न होकर बाधक हैं। हमें कुछ खास बौद्धिक विषयों की शिक्षा की जगह जीवन की शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे हम अपने समाज के लिए अच्छे उपयोगी अंग बनें, सब की सेवा-सहायता में हमारी शक्ति और समय लगे। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

'शिक्षा का यह उद्देश्य नहीं होगा कि वह ऐसा विशिष्ट वर्ग पैदा करे, जो उत्पादक शारीरिक श्रम को हेय समझे और स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर अपनी शिक्षा और बुद्धि का उपयोग कर निर्धनों और आवश्यकता-ग्रस्त लोगों के बल पर मोटा हो; बल्कि यह होगा कि लोग जीवन की कला सीखें—उत्पादकों के समाज में रहना सीखें, श्रम के गौरव और आवश्यकता को समझें, अपने आस-पास के समाज का ख्याल रखने और उनकी माँगों को समझने लगें, अपने और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझ कर पूरा करने को तत्पर होना सीखें, और अपनी बुद्धि तथा शक्ति का विकास करके सबको ज्ञान देने तथा समाज का कल्याण करने में उनका उपयोग करना सीखें। यह शिक्षा जीवन के लिए और प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा होगी। उसे समाज की जरूरतों के साथ जोड़ दिया जायगा और किसी समाजोपयोगी उत्पादन क्रिया के द्वारा वह दी जायगी।'*

शिक्षा सब को सुलभ हो, और जीवन की समस्याओं को हल करने वाली हो—इस विषय की ब्योरेवार बातों में जाने का यहाँ स्थान नहीं। हम इस पर अपने विचार कुछ विस्तार-पूर्वक 'समाज-रचना, सर्वोदय दृष्टि से' नामक पुस्तक में प्रकट कर चुके हैं। उसकी

---

* 'सर्वोदय संयोजन' पुस्तक से।

एक खास बात यहाँ यह कहनी है कि विद्या का आधार पैसा न होना चाहिए। शिक्षा का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला रहना चाहिए। और इस शिक्षा के लिए बालकों को अपने स्थान से दूर जाने की जरूरत न होनी चाहिए, उन्हें जिस गाँव (या कस्बे आदि) में वे रहते हैं, वहाँ ही जीवन के उपयोगी शिक्षा मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। गाँव में प्रकृति की खुली पुस्तक है, लोक-जीवन है, लोक-भाषा है, भूगोल है, इतिहास है, अर्थ-व्यवहार, है, गणित और नागरिकता सब विषयों की सामग्री मौजूद है। इसका वहाँ यथेष्ट उपयोग होना चाहिए। हमारी विद्यापीठें गाँव-गाँव में हों, हमारे विद्यालय खेतों और उद्योग गृहों में हों। हमारे शिक्षित बालक सर्वप्रथम किसान और औद्योगिक हों। प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र की शिक्षा-संस्थाएँ स्थानीय परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए सार्वजनिक जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाली और समस्याओं को हल करने वाली हों। इस प्रकार जो व्यक्ति लोगों के दुःख-दर्द तथा अभावों को दूर करने में जितना अधिक सहायक हो, उतना ही वह अधिक शिक्षित कहा जाने का अधिकारी हो। स्पष्ट है, ऐसी शिक्षा का मूल अहिंसा होगी; जितने अंश में उसमें अहिंसा की कमी रहेगी, उतनी ही वह अपूर्ण मानी जायगी।

चौबीसवाँ अध्याय

अहिंसा और विज्ञान

यह अहिंसा का ही युग है। विज्ञान के साथ अगर अहिंसा न रही तो मानव खतम हो जायगा। केवल विज्ञान से लड़ाइयाँ बढ़ेंगी और कोई लाभ न होगा। अणु-बम और उद्जन-बम आदि के आविष्कारों और प्रयोगों ने राष्ट्र-सूत्रधारों को इस ओर ध्यान देने के लिए विवश किया है।

—विनोबा

यदि विज्ञान हिंसा से पृथक् नहीं किया जाता, तो वह विज्ञान भी शीघ्र समाप्त हो जायगा और साथ-ही-साथ शेष सभ्यता का भी सत्यानाश कर देगा। इस लिए एक क्षण भी अब हिंसा में विश्वास रखना सर्वथा अवैज्ञानिक है। आज मानव सभ्यता और विज्ञान केवल अहिंसा के ही वातावरण में विकसित हो सकते हैं।

—जयप्रकाश नारायण

विज्ञान का क्षेत्र अनन्त है। इसके मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं—भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। साधारण तौर से विज्ञान से भौतिक विज्ञान का ही आशय लिया जाता है, और आज-कल इसे ही बहुत महत्व दिया जाता है। इस विज्ञान ने मनुष्य को जल, थल और आकाश पर बहुत शक्ति प्रदान की है, और इससे प्रकृति के अनेक रहस्यों का पता लगा है; नित्य नये आविष्कार होते जाते हैं।

विज्ञान की दीर्घकालीन परम्परा—भाप आदि शक्तियों का विशेष उपयोग तो सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी से ही होने लगा है।

उससे पहले मनुष्य जो भी काम करता था—जमीन जोतना, पानी निकालना, खेती-बाड़ी, पशुपालन, बुनाई, तेल निकालना, गुड़ बनाना, माल ढोना, यात्रा आदि—वे सब मनुष्य या पशु की शारीरिक शक्ति के द्वारा ही किये जाते थे। प्राकृतिक शक्ति—जैसे लकड़ी जला कर प्राप्त की गयी शक्ति—खाना बनाने, गरम करने, या कुछ धातुओं के औजार या बर्तन आदि बनाने में ही काम में लायी जाती थी। पर उस दशा में भी आदमी अपनी बुद्धि का उपयोग करता था। उस समय विज्ञान नहीं था—यह कहना गलत है। हाँ दो-ढाई सौ साल से मनुष्य या पशु की शक्ति का उपयोग कम होकर, भाप, बिजली आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग अधिकाधिक हो रहा है। और अब हमारी पीढ़ी में तो अणु-शक्ति के प्रयोग होने लग गये हैं, और यह शक्ति इतनी अधिक प्रभावशाली है कि इस युग को अणु-युग का नाम दिया जाता है।

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग—संस्कृत का श्लोक है, जिसका अर्थ यह है कि गुण उन्हें जानने वाले अर्थात् उनका सदुपयोग करने वालों के हाथों में गुण होते हैं, जब वे गुणहीनों अर्थात् उनका दुरुपयोग करने वालों के पहुँच जाते हैं तो वे दोष बन जाते हैं। मीठे जल की नदियाँ बहती हैं, समुद्र में पहुँच कर वे खारी हो जाती हैं। यह बात विज्ञान पर अच्छी तरह लागू होती है। विज्ञान एक साधन है, इसकी शक्ति से कैसा कार्य होता है—अच्छा या बुरा अहिंसक या हिंसक—यह इसके उपयोग पर निर्भर है, आदमी इसका उपयोग अच्छे काम में भी कर सकता है, और बुरे में भी। इस लिए यह कहने की अपेक्षा कि विज्ञान ने यह कार्य किया, यह कहना ज्यादा ठीक है कि विज्ञान द्वारा मनुष्य ने यह कार्य किया। पर व्यवहार में इतना सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता।

खेती का आविष्कार; अहिंसा की दिशा में एक बड़ा कदम—वैज्ञानिक अविष्कार हिंसा को भी बढ़ाने वाले हो सकते हैं

और अहिंसा को भी। अहिंसा को बढ़ाने वाले आविष्कारों का एक उदाहरण खेती का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इससे मनुष्य की भोजन के लिए पशु-हत्या करने की विवशता बहुत कम हो गयी है। अब अनेक क्षेत्रों में आदमी शाकाहारी भोजन पर अच्छी तरह निर्वाह कर सकता है, और अनेक दशाओं में करता भी है। ज्यों-ज्यों खाद्य पदार्थों की उपज बढ़ाने वाले अनुसंधान होते जायँगे, अथवा नये पदार्थों को भोजन के रूप में उपयोग किये जाने के प्रयोगों में सफलता मिलेगी, मनुष्य का मांसाहार उत्तरोत्तर कम होता जायगा। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान ने मनुष्य को अहिंसक बनने की दिशा में कितनी सहायता दी है, और दे सकता है।

विज्ञान और सर्वोदय—प्राचीन काल में आदमी सर्वोदय की बात कहता था तो वह अपने पास के, अपने गाँव-खेड़े के थोड़े से आदमियों को ही अपनी दुनियाँ समझता था। दूर-दूर के आदमियों से वह इच्छा रखते हुए भी संबंध स्थापित नहीं कर सकता था। उस समय दुनिया जुदा-जुदा अनेक भागों में विभक्त थी और एक भाग के निवासियों को दूसरे भाग के आदमियों के सुख-दुख का कुछ पता नहीं होता था और जब पता लग जाता था तो हमें यह साधन सुलभ न थे कि हम अपने दूर रहने वाले भाइयों के दुःख-दर्द को कम करने में क्रियात्मक योग दे सकें। अब विज्ञान की सहायता से हम हजारों मील दूर रहने वालों का हाल सहज ही जान सकते हैं और अनावृष्टि, बाढ़, अग्निकांड, भूकम्प आदि के अवसर पर शीघ्र ही यथेष्ट सहायता पहुँचा सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि विज्ञान सर्वोदय की भावना का प्रचार करने में तथा इसे कार्य-रूप में परिणत करने में कितना सहायक हुआ है। आरम्भ में जब 'सर्वे सुखीना भवन्तु', 'सर्वभूत हितेरताः', या 'वसुधैव कुटम्बकम्' की बात कही गयी थी, मनुष्य यह नहीं जानता था

कि पृथ्वी वास्तव में कितनी बड़ी है, आदमी तथा अन्य प्राणी कहाँ-कहाँ रहते हैं। अब विज्ञान की उन्नति से, यातायात आदि के साधनों की वृद्धि से, यह पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव हो सका है और आगे अधिकाधिक हो सकेगा। इस प्रकार विज्ञान सर्वोदय में, और इस लिए अहिंसा में बहुत सहायक है।

दूसरा पहलू; हिंसक कार्य—पहले कहा गया है कि विज्ञान एक साधन है इसका सदुपयोग होने पर इससे अहिंसक कार्यों में सहायता मिलती है, तो इसके दुरुपयोग होने की दशा में यह बहुत अनिष्टकारी या हिंसक भी हो सकता है। हम देखते हैं कि पिछले समय में विज्ञान से अनेक ऐसे यंत्रों का आविष्कार हुआ है जिनसे उत्पादक कार्यों में मनुष्य को शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है। ये यंत्र कुछ थोड़े से व्यक्तियों के अधिकार में होते हैं। वे लोग इनका उपयोग अपने स्वार्थ-साधन तथा दूसरों के शोषण में करते हैं। इस प्रकार एक बड़ी पूँजी वाला थोड़े से आदमियों के सहयोग से कल-कारखाना चलाकर हजारों आदमियों को बेकार कर देता है। ये बेकार लोग चोरी करने, भीख मांगने, छल-फरेब करने आदि के लिए मजबूर होते हैं। इस प्रकार विज्ञान बहुत बड़ी हिंसा का साधन होता है।

दूसरी बात। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति हुई, युद्ध पहले से अधिक विकराल, और व्यापक होने लगे। पहले प्रत्येक युद्ध की जगह निश्चित या निर्धारित होती थी, जिसे युद्ध-भूमि या रणक्षेत्र कहा जाता था; उससे बाहर के आदमी को युद्ध में होने वाली हिंसा का शिकार नहीं होना पड़ता था। अब तो लड़ने वाले दोनों पक्षों की एक दूसरे के पूरे के पूरे देश पर नजर रहती है। बालक, स्त्री, रोगी या बूढ़ा कोई भी सुरक्षित नहीं रहता। बहुधा प्रत्येक पक्ष में कई-कई देश होते हैं, ऐसी दशा में संहार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो जाता है। नये-नये शस्त्रास्त्रों ने युद्ध की भीषणता को बेहद बढ़ा दी है। अणु-बम और उद्‌जन-बम से होने वाली संहार-लीला से तो ऐसा मालूम होता है कि मानो विज्ञान मनुष्य

का अन्त करने, सृष्टि का विनाश करने पर ही उतारू है।* वर्तमान स्थिति बहुत चिन्तनीय है। आदमी विज्ञान द्वारा प्राप्त महत्त्वपूर्ण शक्तियों से अपना कैसा अहित कर रहा है! इससे कौन सहृदय दुखी न होगा! अनेक वैज्ञानिक भी इस पर गम्भीरता से सोचने के लिए बाध्य हो गये हैं। श्री सी० वी० रमण ने कहा है कि 'यदि विज्ञान के प्रसार और उसके आविष्कारों से मनुष्य के हृदय की विशालता, उच्चता और नैतिकता नहीं बढ़ती तो फिर उनका क्या मूल्य है। यदि विज्ञान यह न कर सके तो बेहतर होगा कि सारी प्रयोगशालाओं को बन्द कर दिया जाय।'

अहिंसा की विशेष आवश्यकता—अहिंसा की आवश्यकता तो मनुष्य को हमेशा रही है, पर विज्ञान के इस घातक रूप से प्रकट होने पर अब वह आवश्यकता और भी अधिक अनुभव की जा रही है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि 'आज छोटे-बड़े अनेक वैज्ञानिक सत्यों के आविष्कार से मानव-जीवन को सुख और स्वास्थ्य की अनेक सुविधाएँ मिली हैं, किन्तु अहिंसा के एक नियम की स्वीकृति के बिना हम सब कहाँ हैं, मानव-जाति का सुख कहाँ है, मनुष्यों के मन की शांति कहाँ है, और कहाँ है राष्ट्र-प्रेम और भ्रातृ-भाव जिसके अभाव में हर एक का जीवन नीरस बना हुआ है! विज्ञान के स्वसंचालित यन्त्र जिस वेग से संहार की वृष्टि कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली अहिंसा के स्वर हैं। वे जिस क्षण महान राष्ट्रों के कंठ से निकलेंगे, संसार भर के मानव का मन आश्वस्त हो जायगा।'

भौतिक परमाणु बनाम चैतन्य परमाणु—अणु-बम आदि का आजकल लोगों के मन पर बहुत आतंक है, तथापि यह विचार करना चाहिए कि वह आखिर तो एक जड़ पदार्थ है, वह चैतन्य शक्ति के सामने कब तक डटेगा। अणु-बम का बनाने वाला

---

* अणु-बम आदि की शक्ति के सदुपयोग के भी प्रयोग हो रहे हैं, उस दशा में यह अहिंसा या प्रेम और सेवा-कार्यों को बढ़ाने में बहुत सहायक होगी।

तो मनुष्य ही है, क्या मनुष्य उसका नियन्त्रण नहीं कर सकेगा ? श्री विनोबा के शब्दों में 'एटम ने यह सिद्ध कर दिया कि अणु में ऐसी शक्ति है कि वह संहार कर सकती है। इतनी शक्ति अणु में होती है, तो फिर हमको यह समझना है कि एक साधारण भौतिक परमाणु में इतनी शक्ति है तो चैतन्य परमाणु में, ज्ञान-परमाणु में कितनी शक्ति होगी।'

आध्यात्मिक और भौतिक विज्ञान का समन्वय हो—

पहले कहा गया है कि विज्ञान के मुख्य तीन भेद हैं। इस समय भौतिक विज्ञान पर बहुत जोर दिया जाता है। साथ में मानसिक विज्ञान भी बढ़ रहा है। परन्तु आध्यात्मिक विज्ञान की ओर अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार विज्ञान की जो उन्नति हुई है, वह एकांगी है। शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु मनुष्य केवल उसका शरीर या मन ही नहीं है। उसका एक अंग आत्मा भी है, और वह इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी तुलना में शरीर और मन का स्थान ऐसा ही है, जैसा शरीर की तुलना में कपड़े का। कपड़े को हम अनावश्यक नहीं कहते, पर वह शरीर के लिए है। इसी प्रकार शरीर और मन में दोनों आत्मा के लिए हैं।

इस आत्मा को आध्यात्मिक विज्ञान की जरूरत है जिससे मनुष्य में आत्मीयता की भावना बढ़े। आध्यात्मिक विज्ञान मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करना, दूसरों की सेवा सहायता करना, उनके लिए अपने सुख सुविधाओं का त्याग करना सिखाता है। इससे आदमी मिलजुल कर, प्रेम से, शान्ति और सहयोग से रहते हैं। विश्वबंधुत्व का मार्ग प्रशस्त होता है, 'सर्वभूत हिते रता' का आदर्श कार्य रूप में परिणत होता है। अस्तु, भौतिक विज्ञान को त्याज्य नहीं बताया जा रहा है, पर उसके साथ आध्यात्मिक विज्ञान या आत्मज्ञान का मेल होगा तभी मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति का नियन्त्रण होकर अहिंसा की दशा में यथेष्ट प्रगति होगी।

पचीसवाँ अध्याय

अहिंसा और अपराध

जब अहिंसा को जिन्दगी का सिद्धान्त बना लिया जाय तो वह समस्त जीवन में व्याप्त होगी, न कि कुछ इने-गिने कार्यों में ही।
—गाँधी जी

किसी अपराधी में कोई मानवी या दैवी भावना है ही नहीं, यह कभी नहीं माना जा सकता। हमारा कर्तव्य है कि मानवीय गुणों पर आस्था रखते हुए अपने ऐसे बन्धुओं के सोये हुए 'इनसान' को जगावें, उन्हें स्नेह का सम्बल दे कर आत्म-निरीक्षण करने का मौका दें। हमारा प्रयत्न अपराध से घृणा करने का हो, न कि अपराधी से।
—'अणुव्रत'

इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि समाज में अपराधों को कम करने के लिए जो उपाय समय-समय पर किये गये हैं, उनमें हिंसा पहले जितनी थी, उसकी अपेक्षा अब कहाँ तक कम है, और जो हिंसा अब होती है उसे और भी कम करने के सम्बन्ध में क्या विचार किया जाता है। पहले प्राचीन तथा आधुनिक अपराधों के स्वरूप को ध्यान में ले आवें।

प्राचीन और आधुनिक अपराध; स्थूल और सूक्ष्म हिंसा—पहले आदमी प्रायः हिंसाकार्य खुल्लम-खुल्ला करते थे। बहुधा लाठी या छुरी आदि का सहारा लिया जाता था। इस प्रकार हिंसा स्थूल और स्पष्ट होती थी। यद्यपि इस समय भी शरीर-बल और हिंसक

अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है, अब अधिकतर अपराध छल-कपट, धोखेबाजी, मक्कारी आदि से किये जाते हैं। अपराधियों के अस्त्र अब भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, साइकल, मोटर और कहीं-कहीं हवाई जहाज आदि भी हैं। बड़े शहरों में जिस ढंग से दिन-दहाड़े, बात की बात में हजारों रुपया ठगा जाता है या रिश्वत आदि में लिया जाता है, उसकी प्राचीन काल में कल्पना भी नहीं होती थी। आज कल तो सरकारी विभागों में करोड़ों रुपया गबन होने की घटनाएँ सामने आ जाती हैं। इन अपराधों में हिंसा स्थूल न होकर सूक्ष्म या मानसिक अधिक होती है।

प्रारम्भ में अपराध लोगों का निजी मामला—प्रारम्भ में अपराध लोगों का निजी मामला था। यदि कोई आदमी दूसरे को मारता-पीटता या कुछ नुकसान पहुँचाता तो दूसरा उससे जैसा बन आता, बदला लेता। बहुधा इन दोनों व्यक्तियों को अपने-अपने परिवार या टोली वालों का सहारा मिल जाता और उनका झगड़ा उन दो व्यक्तियों में सीमित न रहकर दो परिवारों या दो टोलियों का झगड़ा हो जाता था, और प्रायः एक ही पीढ़ी में समाप्त न होकर अगली पीढ़ी में भी चलता रहता था। एक परिवार या टोली के आदमियों को जब भी—कई-कई साल बाद तक भी—मौका मिलता वह दूसरे परिवार या टोली के चाहे जिस आदमी—बालक, बूढ़े, स्त्री आदि पर आघात करता। इस प्रकार इस मनमानी हिंसा का सिलसिला चलता रहता था; इसका सहज ही अन्त नहीं होता था। समाज के इस घातक दोष को रोकने के लिए कुछ बुजुर्गों, साधु-स्वभाव सज्जनों अथवा नीतिकारों ने कुछ नियम निर्धारित किये। 'आँख के बदले आँख, और दाँत के बदले दाँत' उसका ही उदाहरण है। इसका व्यवहारिक अर्थ यही है कि आदमी हिंसा के जवाब में हिंसा करे तो वह मनमानी हिंसा न होकर नियंत्रित रूप में हो।

राज्य की स्थापना होने पर—राजव्यवस्था प्रारम्भ होने पर पहले तो राज्य का राजद्रोह के अतिरिक्त किसी अन्य अपराध से कोई सम्बन्ध न था। पीछे क्रमशः अन्य अपराधों में भी राज्य का हस्तक्षेप होने लगा। वह उन्हें रोकने लगा। कितने ही राज्यों में प्रत्येक अपराध के—हत्या के भी—लिए आर्थिक दण्ड निश्चित रहा। निर्धारित रकम क्षति-ग्रस्त व्यक्ति को दे देने से मामला निपट जाता। पीछे अपराध लोगों का निजी मामला न रह कर सार्वजनिक विषय बन गया। अब राज्य की संस्थाओं अर्थात् न्यायालयों को अपराध पर विचार करने, उस पर अपना निर्णय देने, और अपराधी के लिए दंड निर्धारित करने का अधिकार हो गया। क्षति-ग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही अपराधी को दंड नहीं दे सकता। (यदि वह स्वयं बदले में कुछ दंड दे, तो वह अपराधी माना जाता है), वह केवल अपना मामला न्यायालय में पेश ही कर सकता है। न्यायालय का काम है कि वादी-प्रतिवादी दोनों का बयान तथा उनकी साक्षी लेकर यह तय करे कि वादी की फरियाद कहाँ तक ठीक है, और अगर वह किसी अंश में पूरे रूप में ठीक है तो अपराधी को, कानून के अनुसार क्या दंड दिया जाय। बेंत या कोड़े लगाने आदि का शारीरिक दंड, जुरमाने का आर्थिक दंड, कैद सादी या सख्त, काला-पानी या फाँसी।

आरम्भ में दंड-व्यवस्था बहुत ही व्यापक तथा हिंसक—आरम्भ में दंड बहुत क्रूरता और निर्दयता पूर्ण होता था। कहीं-कहीं अपराधियों की आँखों में मिर्च भरी जाती थी। कहीं उन्हें खड़ा करके उनके हाथ-पाँव इस तरह बाँध दिये जाते थे कि वे रात-दिन खड़े ही रहें, बैठ न सकें; अथवा यदि वे जरा भी हिलें-डुलें तो उनके बदन में नोकदार कीलें घुस जायँ। उनके रहने के स्थान प्रायः दुर्गन्धयुक्त होते थे। अनेक स्थानों में उन्हें भूखा-प्यासा रखा जाता था। उनको कोड़े लगाये जाते थे, तथा उनके अंग-भंग किये जाते थे। इसमें लक्ष्य यह रहता था कि अपराधी का कष्ट देख कर दूसरों पर आतंक रहे।

प्राण-दंड भी बहुत क्रूरता-पूर्वक दिया जाता था। कहीं अपराधी को दीवार में चुना जाता था, कहीं उसे रथ या गाड़ी से बाँध कर जमीन पर घसीटा जाता था, कहीं हाथियों के पाँवों के नीचे कुचला जाता था, कहीं पेड़ों से बाँध कर या कुछ हिस्सा जमीन में गाड़ कर कुत्तों आदि से कटवाया जाता था, कहीं पत्थर और ईंटों के प्रहार से उसके प्राण लिये जाते थे। सूली या सलीब पर चढ़ाना, विष पिलाना, जल्लाद के खंजर द्वारा सिर धड़ से अलग कराना, गले में फाँसी का फंदा लगाना, औटते हुए तेल की कढ़ाई अथवा खूब गर्म लोहे के तवों पर या चिता में बैठा कर जला देना भी आमतौर पर होता था। पहले बहुत से अपराधों के लिए प्राण-दंड का ही विधान था। इंगलैंड में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी डेढ़ सौ से अधिक प्रकार के अपराध ऐसे माने जाते थे, जिनके लिए प्राण-दंड दिये जाने का कानून था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक की बात है कि वहाँ एक शिलिंग (लगभग बारह आने या पिछत्तर नये पैसे) से अधिक मूल्य की वस्तु चुराने के अपराध में फाँसी की सजा दी जाती थी। राजधर्म से भिन्न किसी अन्य मत को मानना भी अनेक देशों में बहुत समय तक ऐसा अपराध माना जाता रहा जिसके लिए अपराधी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। जादू-टोने या जालसाजी के अपराधियों को जलाये जाने या फाँसी दी जाने की प्रथा भी बहुत रही है।

क्रमशः सुधार; फौजदारी मामलों में निर्दयता की कमी—धीरे-धीरे इन बातों में सुधार हुआ। लोगों ने मानवता की माँग सुनी, सहानुभूति की भावना बढ़ी, अपराधी को मिलने वाले कष्ट का विचार किया गया। कुछ विवेक और नम्रता का उपयोग होने लगा। कई प्रकार के दंड बिलकुल उठा दिये गये, या उन्हें दिये जाने के अवसर कम कर दिये गये। बहुत से देशों में हत्या और राजद्रोह को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए प्राण-दंड नहीं रहा है, तथा कुछ स्थानों में इन अपराधों के लिए भी यह दंड देने की व्यवस्था नहीं रही।

कितने ही राज्यों में कानून से यह दंड बना रहने पर भी प्रायः व्यवहार में नहीं आता। फिर, जिन देशों में यह दिया जाता है, उनमें से भी उन्नत देशों में प्राण-दंड बहुत संकटमय नहीं रहा; अपराधी को बिजली की कुर्सी पर बैठाया और क्षण भर में उसके प्राण गये। 'सुगंधित' गैस से आदमी एक सेकिंड में बेहोश हो जाता है, और बिना कष्ट पाये झटपट मर जाता है।

दीवानी मामलों में भी कठोरता की कमी—दीवानी अपराधों का दंड भी अब पहले जैसा कठोर नहीं रहा है, उसमें भी बहुत सुधार तथा नरमी हो गयी है। आचार्य कृपलानी ने लिखा है—'आरम्भ में ऋणदाता ही इस बात का एकमात्र निर्णायक था कि वह किस प्रकार अपना ऋण वसूल करे। राज्य उसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। ऋणदाता ऋणी को अस्थायी या स्थायी दास बना सकता था। वह ऋणग्रस्त की जान ले सकता था या उसका अंग-भंग कर सकता था। पहले राज्य ने इस बात की सीमा निर्धारित कर दी कि कहाँ तक ऋणदाता अपना ऋण वसूल करने के लिए बढ़ सकता है। पहले ऋणग्रस्त के जीवन और शरीर को सुरक्षित किया गया; फिर ऋणदाता के चंगुल से ऋणी को मुक्त किया गया। धीरे-धीरे यह नियम बना कि ऋणग्रस्त के वारिस और वंशज ऋणदाता के दावे से मुक्त होंगे। उन पर तभी दावा किया जा सकेगा जब वे ऋण ग्रस्त की पूँजी या जायदाद के वारिस हों। आज ऋणदाता का ऋणी की जायदाद पर कुछ नियंत्रित और सीमित अधिकार मात्र रह गया है। इन अधिकारों के बारे में भी फैसला देने का अधिकार राज्य के हाथ में है, और जब ऋणदाता डिग्री प्राप्त कर लेता है तब भी अमल उस पर कानून द्वारा स्वीकृत तरीके पर राज्याधिकारियों की सहायता से ही हो सकता है।*

नया दृष्टिकोण—अब दंड का सिद्धान्त बदल गया है—

---

*'गाँधी मार्ग' पुस्तक से

यद्यपि बहुत से स्थानों में यह मान्य नहीं हुआ है, अथवा इसके अनुसार कार्य नहीं हो रहा है। अब लोग अपराधी को समाज का शत्रु नहीं मानते, उसे समाज-विरोधी नहीं समझते, इस लिए उसके प्रति बदले या प्रतिहिंसा की भावना नहीं, सहानुभूति रखी जाती है। यह विचार किया जाने लगा है कि जिन कारणों से अपराध होते हैं, उन्हें दूर किया जाय। यह मालूम हुआ है कि कुछ अपराध तो लोगों की मानसिक स्थिति या पागलपन आदि के कारण होते हैं और बहुत से अपराध आदमी विशेष परिस्थिति के शिकार होने के कारण करते हैं। उदाहरण के लिए चोरी करने वाले अधिकांश आदमी निर्धनता और बेरोजगारी के कारण ही यह कार्य करते है। ऐसे आदमियों को जेल से छूटने पर यह कहते सुना जाता है कि बाहर जाकर भूखा मरने से तो जेल में रहना ही अच्छा है।

अपराधी को दंड देने के बजाय, उसका सुधार—बहुत से स्थानों में खासकर युवक अपराधियों के लिए सुधारशालाएँ बन गयी हैं। यद्यपि अभी इन सब का संचालन, जैसा चाहिए वैसा नहीं होता। इनका लक्ष्य यह है कि अपराधियों को सज्जनों और मनोविज्ञान के विशेषज्ञों के सम्पर्क में रख कर उनकी अपराध-मनोवृत्ति हटा दी जाय और वे अच्छा चरित्रवान जीवन बिताने योग्य हो जायँ। इसके अतिरिक्त उन्हें उपयोगी कला-कौशल और दस्तकारी आदि की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे ईमानदारी से अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। क्रमशः जेलों में भी सुधार हो रहा है और अपराधी को समाज का अंग मानते हुए उससे पहले की अपेक्षा बहुत मानवता-पूर्ण व्यवहार होता है।

परिस्थिति-परिवर्तन—ऊपर बताया गया है कि बहुत से अपराध तभी बंद होंगे, जब परिस्थिति में आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाय। आर्थिक परिस्थिति ऐसी होनी चाहिए कि आदमी को अपनी

आजीविका प्राप्ति में कोई कठिनाई न हो। परिवार ऐसा हो कि बालक के शुरू से ही अच्छे संस्कार पड़ें, और वह समाज में सब से मिल जुल कर प्रेम से रहे। शिक्षा ऐसी हो कि आदमी अपने विद्यार्थी-जीवन से ही शरीर-श्रम का अभ्यस्त हो, मुफ्त का खाने या कम मेहनत से अधिक धन प्राप्त करने की भावना मन में न लावे तथा सामाजिक जीवन में अपने कर्तव्य का ठीक से पालन करे। इसी प्रकार सिनेमा और साहित्य भी ऐसा होना चाहिए जिससे मन में सद्भावना जाग्रत हो। दूषित विचार पैदा करने वाले कारणों पर समुचित प्रतिबन्ध लगाया जाय।

विशेष वक्तव्य—अभी उपर्युक्त बातें बहुत कम स्थानों में ही होने लगी हैं। अधिकांश अपराधियों को शारीरिक या आर्थिक दंड दिया जाता है। प्राण-दंड भी अभी बहुत जगह प्रचलित है। तथापि इसमें संदेह नहीं कि अपराधियों के प्रति पहले की तरह हिंसात्मक व्यवहार नहीं किया जाता और होता है तो उसे बुरा समझा जाता है। अब उनसे सहानुभूति बढ़ रही है। आशा है आगे अधिकाधिक वैज्ञानिक तथा नैतिक और मानवीय दृष्टिकोण अपनाया जायगा, और मानव समाज इस दिशा में अहिंसा की ओर प्रगति करेगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

अहिंसा और परिवार

मानव जाति की सेवा के लिए परिवार तुम्हारा सबसे छोटा कार्यक्षेत्र है। इसमें तुम, तुम्हारी पत्नि, और तुम्हारे बच्चे होते हैं। प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से परिवार समाज की स्वाभाविक इकाई है।

—हरदयाल

परिवार ही स्वभावतः मानव जीवन का घटक या इकाई होना चाहिए और अहिंसा, प्रेम, नम्रता की नींव पर ही उसकी रचना होनी चाहिए। शारीरिक शक्ति पर आधारित अनियंत्रित सत्ता से प्रारम्भ होकर न्याय तथा पारस्परिक आवश्यकता पर सम्पूर्ण स्थित समता में ही पारिवारिक जीवन का विकास हुआ है।

—रंगनाथ दिवाकर

परिवार के विकास में अहिंसा की स्थिति कैसी रही, इसे समझने के लिए जरा यह विचार कर लें कि पारिवारिक जीवन आरम्भ होने से पहले तथा काफी समय बाद तक पुरुष, स्त्री और संतान का सम्बन्ध अहिंसा की दृष्टि से कैसा था।

विवाह-प्रथा से पहले स्त्री के लिए झगड़े—आज-कल हम कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः एक आदमी की एक स्त्री, और एक स्त्री का एक पति देखते हैं। अब स्त्री-पुरुष बहुधा विवाह करके परिवार बना कर रहते हैं। पहले ऐसा नहीं था, विवाह प्रथा ही नहीं थी। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वच्छन्दता-पूर्वक होता था और टूटता था। उसमें किसी प्रकार का नियम या मर्यादा न थी। आवश्यकतानुसार मनमानी हिंसा होती रहती थी। एक ही स्त्री को प्राप्त करने के इच्छुक कई-कई

पुरुष होते थे। खासकर सुन्दर या मेहनती स्त्री के लिए पुरुषों में खूब लड़ाई-झगड़े होते थे। कहावत प्रचलित हो गयी कि जोरू (स्त्री), ज़र (सम्पत्ति) और जमीन झगड़े की जड़ हैं। अस्तु, इस हिंसा और अशांति को दूर करने के लिए विविध नियम बने और विवाह-प्रथा जारी हुई।

विवाह-प्रथा से हिंसा कुछ कम हुई—विवाह-संस्कार सार्वजनिक रूप से होने से यह लाभ हुआ कि आदमी जानने लगे कि किस खास स्त्री या स्त्रियों का सम्बन्ध किस खास पुरुष या पुरुषों से होना स्थिर हो गया है, और धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि जिन स्त्रियों का यह सम्बन्ध स्थिर हो जाय, उनसे दूसरे आदमियों का यह सम्बन्ध न हो। इस प्रकार एक स्त्री का विवाह हो जाने के बाद फिर किसी प्रकार का झगड़ा होने की शंका मिट गयी या बहुत कम रह गयी। हां, विवाह होने से पहले या विवाह होते समय तो लड़ाई-झगड़ा हो ही सकता था, और अनेक बार होता था।

हिन्दुओं में ऐसे विवाह खासकर राक्षस विवाह और पैशाच विवाह कहलाते थे। राक्षस विवाह वह था जो कन्या के घर वालों से युद्ध करके किया जाता था। पैशाच विवाह उसे कहा जाता था जिसमें पुरुष कन्या का अपहरण करता था। ये विवाह करने वाले अनेक बार बड़े-बड़े सरदार, सामन्त और जागीरदार या राजा आदि होते थे। जिन्हें अपने भाई-बन्दों, नौकरों और सिपाहियों का बड़ा बल प्राप्त रहता था। इससे इनके उक्त विवाहों पर होने वाली हिंसा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, समाज आगे बढ़ता गया, विवाह-प्रणाली में सुधार होता गया। भारत में विवाहों में बड़ी-बड़ी बारात का जाना, बल्लम,भाले आदि का ले जाना और गाजे-बाजे की धूमधाम प्राचीन युद्ध-मूलक विवाहों की यादगार बनी हुई है। वैसे विवाह-प्रणाली अब भी दोष-मुक्त नहीं है। अनेक अवसरों पर भय दिखाया जाता है, प्रलोभन का तो खुलकर प्रयोग होता है, कुछ स्थानों में छल-कपट,

आडम्बर आदि का आसरा लिया जाता है। ये सब हिंसा के ही रूप हैं। इन्हें हटाना जरूरी है और ये कुछ हटते भी जा रहे हैं। अस्तु, वर्तमान अवस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित होने में हिंसा पहले से कम है, यद्यपि हमें इसी से संतोष नहीं करना है।

पारिवारिक सम्बन्ध और अहिंसा—प्राचीन काल में, जब परिवार-प्रथा प्रचलित न थी, परिवार का अर्थ था प्रायः स्त्री और उसके बच्चे। पुरुष तो हजारों वर्ष बाद परिवार का स्थायी सदस्य बना। विवाह-प्रथा जारी होने पर परिवार में खासकर स्त्री, उसका पति, और उन दोनों की सन्तान गिनी जाने लगीं। हां, कुछ स्थानों में दो-तीन परिवार इकट्ठे भी रहते हैं, इसे संयुक्त परिवार कहते हैं। भारत में यह प्रथा कुछ समय पहले तक बहुत प्रचलित थी, बालक अपने माता-पिता के ही साथ नहीं, अपनी चाची, ताई और चाचा, ताऊ आदि के भी साथ रहते थे। इधर यह प्रथा टूट रही है। संसार के कुछ हिस्सों में समय-समय पर परिवार के दो भेद रहे हैं—(१) पितृ प्रधान। इसमें बालक अपने पिता, पितामह और प्रपितामह आदि के वंश के माने जाते हैं और किसी आदमी की जायदाद का अधिकारी उसका बड़ा लड़का माना जाता है। (२) मातृप्रधान। इसमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है। जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। अब इस में कुछ परिवर्तन हो गया तथा हो रहा है।

परिवार के इतिहास पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इसके क्षेत्र में हिंसा क्रमशः कम हुई है। पहले अनेक देशों में आदमी का अपनी पत्नि तथा बच्चों पर पूर्णाधिकार था, वह उन्हें जान से मार सकता था, और अपनी अन्य वस्तुओं की भांति उन्हें बेच भी सकता था। खासकर बच्चों की बिक्री अधिक होती थी। पीछे इसमें सुधार हुआ, उनका बेचा जाना बन्द हुआ तथा जान से मारा जाना राज्य द्वारा अपराध माना जाने लगा। पर इस दशा में भी यदि पुरुष अपनी स्त्री

या बच्चों को किसी बात पर नाराज होकर उन्हें शारीरिक दंड दे अर्थात् उन्हें मारे-पीटे तो वह कानून से दंडित नहीं होता था। यह बात कुछ सीमा तक अब भी प्रचलित है। पर अब कहीं ज्यादती होती है तो राज्य उसमें हस्तक्षेप करता है। बच्चों के भी कुछ अधिकार हैं, यह माना जाता है। इस प्रकार संरक्षकों के पूर्णाधिकार की बात अब नहीं रही, उसकी एक मर्यादा या सीमा है।

स्त्री से होने वाला व्यवहार और अहिंसा—विवाह ने स्त्री की स्वच्छन्दता पर रोक लगायी। स्त्री अब एक पुरुष के (अपने पति के) अधीन रहने लगी। यह एक तरह से पहले की दशा में सुधार की बात थी। क्योंकि अनेक स्थानों में पति-पत्नि में प्रेम, सहयोग और बहुत कुछ समानता आयी। कई धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में स्त्रियों का सहमत होना आवश्यक माना गया। बहुत-सी दशाओं में स्त्रियों का प्रभाव बहुत अधिक रहा। मातृप्रधान परिवारों में उनके ही नाम पर वंश चला।

परन्तु अन्य अनेक दशाओं में स्त्री का पद पुरुष से बहुत नीचा ही रहा, पुरुष के धनोपार्जन का कार्य करने से आर्थिक विषयों में उसका ऊँचा समझा जाना स्वाभाविक रहा। वह सब सम्पत्ति का स्वामी माना गया। युद्ध में भाग लेने का काम अधिकतर पुरुषों का होने से पुरुष स्त्री का भी संरक्षक रहा। धनवानों योद्धाओं, सेनापतियों, सरदारों या राजाओं आदि के यहाँ कई-कई स्त्रियाँ होने से भी स्त्री का पद नीचा रहने में सहायता मिली। कुछ स्थानों में स्त्रियों को 'पैर की जूती' कहा गया। स्त्रियों का उनके पतियों द्वारा डाटना-डपटना तो अनेक भले घरों में भी साधारण बात है। यद्यपि कुछ नीतिकारों धर्माचार्यों और उपदेशकों ने स्त्रियों के प्रति बहुत आदर सूचक बातें भी कही हैं, प्रायः पुरुष ने स्त्री को अपने से नीचा ही माना है। हमने ऐसे विवाहित युवकों को देखा है जिन्होंने स्नान करने पर अपनी धोती धोने का काम अपनी मां के लिए छोड़ दिया। यही नहीं, अपने

बचपन में हमने यह भी देखा कि किसान युवक खेत पर गया है, पीछे उसकी माँ घर का काम करके उसके लिए रोटी ले गयी तो विलम्ब हो जाने पर उसे अपने बेटे की मार खानी पड़ी। इस बात को अब साठ वर्ष हो गये। तथापि इससे स्पष्ट है कि ऐसी बातें इस युग में भी हुईं। हाँ, अब जमाना आगे बढ़ गया है, ऐसी घटनाओं की सम्भावना अब कम रह गयी है।

वर्तमान स्थिति—*अब सभ्य परिवारों में बालक अपनी माता का* यथेष्ट आदर करते हैं और पुरुषों की प्रवृत्ति अपनी पत्नियों से अधिकाधिक समानता का व्यवहार करने की है। स्त्रियों की आर्थिक अयोग्यता की बात लुप्त होती जा रही है, अनेक स्त्रियाँ स्वयं आजीविका उपार्जन करके स्वावलम्बी हो गयी हैं, तथा बहुत से राज्यों में घर की सम्पत्ति में स्त्रियों का भी अधिकार मान्य किया जाता है। इस प्रकार स्त्रियों की अधीनता अब उत्तरोत्तर कम होती जा रही है, उनके साथ होने वाले व्यवहार में हिंसा का कम होना स्पष्ट है, और जो हिंसा अभी है उसे भी विचारशील महानुभाव हटाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

विशेष वक्तव्य—परिवार में नर और नारी एक दूसरे के लिए और दोनों अपने बच्चे या बच्चों के लिए कष्ट उठाते और त्याग करते हैं। सम्पत्ति का उपयोग करते समय दूसरों की जरूरतों का ध्यान रखते हैं, कोई उसे एक मात्र अपनी मिलकियत नहीं समझता। एक-दूसरे का हित सोचते हैं और वैसा व्यवहार करते हैं। इससे सब का जीवन सुखमय होता है। हमें चाहिए कि समाज के बड़े क्षेत्र में इन गुणों का अभ्यास करें।

सत्ताइसवाँ अध्याय

अहिंसा और समुदाय

वह कौनसी संयोगाकर्षण शक्ति थी जिसने स्त्री-पुरुषों को कुटुम्बों, कुनबों, टुकड़ियों और राष्ट्रों के रूप में संयुक्त कर दिया? निषेधात्मक शब्द इस्तेमाल करना चाहें तो वह अहिंसा थी; विधायक शब्द इस्तेमाल करना चाहें तो वह प्रेम का नियम था, जो शान्ति और सहयोग की ओर प्रेरित करता था।

—जी० भ० कृपलानी

पिछले अध्याय में परिवार की दृष्टि अहिंसा का विचार किया गया। परिवार और इससे बड़े समुदायों का संगठन अहिंसा के ही कारण संभव हुआ है। अब बड़े समुदायों का विचार करें।

परिवार से बड़े समुदायों में अहिंसा—आदमी जिस प्रकार अपने परिवार से स्वभावतः प्रेम करता है, उसी प्रकार—यद्यपि उससे कुछ कम—अपने रिश्तेदारों अर्थात् भाई-भौजाई, बहिन-बहनोई, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, बाबा-दादा-दादी, नाना-नानी, साले-साली आदि से, और इनसे कुछ कम अपनी बिरादरी वालों से प्रेम करता है। अपनी बिरादरी वालों को वह जाति-भाई कहता है। स्वार्थ-भावना आदि प्रबल हो जाने की विशेष दशा को छोड़ कर एक बिरादरी के आदमी आपस में प्रायः अहिंसा-नीति अपनाते हैं। बिरादरी को जाति कह दिया जाता है, इसमें जाति का अर्थ बहुत संकुचित ही लिया जाता है। वास्तव में जाति बहुत विशाल होती है, और संसार भर की कुल जनता की मुख्य जातियाँ गिनी-मिनी ही हैं। फिर, आदमी समझदारी से काम ले तो मनुष्य मात्र की एक ही जाति है; रूप, रंग, आकार आदि के भेद से मनुष्यों को अलग-अलग जाति का मानना हमारी

अल्पज्ञता है। अस्तु, संसार की एक-एक मुख्य जाति के आदमियों की संख्या कई-कई करोड़ है, और वह दूर-दूर तक कई-कई देशों तक फैली हुई है। आज कल स्वदेश या राष्ट्र की भावना का बहुत विकास हो जाने के कारण जातिगत दृष्टि अपेक्षाकृत कम ही है, तथापि साधारणतः आदमी जाति और गैर-जाति का विचार करता है, और यदि कोई विशेष बाधक कारण न हो तो वह जाति के प्रति अहिंसात्मक भाव रखने का प्रयत्न करता है।

दास और नौकर—दूर रहने वालों से हमारा काम अपेक्षाकृत कम ही पड़ता है। उनसे मिलना-भेंटना भी कभी-कभी होता है। रोज-मर्रा तो हमारा सम्बध उन्हीं से आता है जो हमारे पास रह कर हमारा काम करते हैं या काम में हमारी मदद देते हैं। इनमें से जो लोग बराबरी की हैसियत से हमारे काम में सहयोग करते हैं, उनके प्रति तो हम प्रायः अहिंसक रहेंगे ही। हमारी अहिंसा की कसौटी तो हमारे उन लोगों से किये हुए व्यवहार से होगी जो हमारे अधीन रहते हैं। इनके दो भेद हैं—दास और नौकर। पहले दासों का विचार करें।

दासता और अहिंसा—आदमी में युद्ध की भावना वैसी ही पुरानी है, जैसी प्रेम की। पहले, लड़ाई में जो आदमी हार जाते और गिरिफ्तार किये जाते थे, उन्हें मुफ्त में खिलाने-पिलाने की अपेक्षा जान से मार डाला जाता था, और कभी-कभी उनके मांस से दावत उड़ायी जाती थी। पर खेती का अविष्कार हो जाने पर युद्ध-बन्दियों को मारना बन्द करके उन्हें दास या गुलाम बना कर रखा जाने लगा* और उनसे खेती आदि करायी जाने लगी। उस समय यह बात अहिंसा की

* यूनान आदि में स्वतंत्र नागरिक अपनी सन्तान को बेच सकते थे और बेची हुई सन्तान अपने खरीददारों की गुलाम होती थी। इसी तरह कहीं-कहीं कर्जदार ऋण चुकाने के समय तक अपने महाजन के गुलाम होते थे।

दृष्टि से एक प्रकार का सुधार ही था, क्योंकि अब युद्ध-वन्दियों का मारा जाना वन्द हो गया और नर-मांस खाने के अवसर भी कम रह गये। इससे पराजित लोगों को युद्ध-वन्दी वनाना भी कम हुआ।

दासता का उन्मूलन; अहिंसा की ओर वढ़ा कदम— यद्यपि कुछ गुलाम वहुत भाग्यवान होते थे, और अपने मालिक का वहुत प्रेम तथा सत्कार भी पाते थे, अधिकतर गुलामों की दशा खराव ही होती थी। उनके मालिक को कानून से उन पर पूर्ण अधिकार होता था, वह चाहे उन्हें जितना मारे-पीटे या सताये, उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं हो सकती थी। प्राचीन काल से जव रोम पश्चिमी सभ्यता का केन्द्र माना जाता था, वहाँ वाजारों में गुलामों की खरीद-विक्री खुले-आम गाय-वैल की तरह खूव जोर से होती थी। संसार की वहुत सी पुरानी सभ्यताओं का आधार गुलामी की प्रथा रही है, भले ही उसका स्वरूप, देश-काल के अनुसार, कुछ अलग-अलग रहा हो। कितने ही वड़े-वड़े दार्शनिकों तथा चिन्तकों ने इसका समर्थन किया है। इसलिए उस समय यह कल्पना सहज नहीं थी कि इसका अन्त होना चाहिए। पर मानवता का विकास होना था। पहले कुछ हृदयों में इसके विरोध की भावना जाग्रत हुई; धीरे-धीरे वह वढ़ी और फैली।

आर्थिक विचार भी इसमें सहायक हुए। वात यह थी कि प्रायः गुलाम लोग खेती की पैदावार वढ़ाने या अन्य काम करने में विशेष दिलचस्पी नहीं लेते थे। उन्हें मारपीट कर, सजा देकर अधिक काम करने के लिए मजवूर किया जाता था, पर इससे स्थायी सफलता नहीं मिलती थी। क्रमशः यह अनुभव हुआ कि कुछ गुलामों को जिन्दा रखने के और श्रम करने योग्य वनाये रखने के लिए खिलाने-पिलाने में जितना खर्च हो जाता है, उतनी उनसे आय नहीं होती। ऐसे गुलाम रखना मालिकों को मंहगा पड़ने लगा। यह आवश्यक जान पड़ा कि या तो उन गुलामों को मुक्त कर दिया जाय या पैदावार वढ़ाने में उनकी

रुचि बढ़ायी जाय। रुचि बढ़ाने के वास्ते आवश्यक था कि गुलाम जमीन पर जो पैदा करें, उसमें से कुछ हिस्सा स्वयं उन्हें भी मिले। आखिर, यह व्यवस्था करनी पड़ी। धीरे-धीरे गुलामों के पास सम्पत्ति जमा होने लगी। उन्होंने तथा दूसरे सज्जनों ने गुलामी का विरोध किया। लोकमत तैयार हुआ, और गुलामी का क्रमशः अन्त हुआ। अब कोई आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी खास व्यक्ति के पास बराबर काम करते रहने को बाध्य नहीं है। वह जब तक चाहे तभी तक उसके पास काम करेगा, वह कहीं भी कोई काम करने के लिए स्वतंत्र है। समाज की अर्थ-रचना ठीक न होने से आदमी को इस स्वाधीनता से यथेष्ट लाभ नहीं मिलता, इसका विचार आगे किया जायगा। तथापि यह स्पष्ट है कि दासता का दूर होना मानव समाज का, अहिंसा की दिशा में, निश्चित रूप से कुछ बढ़ना ही है।

नौकरों से व्यवहार—मोटे हिसाब से अब दासता नहीं है, और यदि कहीं है तो वह बहुत सीमित क्षेत्र में, कुछ विशेष कारणों से अथवा चोरी-छिपे। सभ्य समाज में उसका खुले-आम चलन नहीं है। हाँ, नौकर या मजदूर अब भी रहते हैं। कुछ आदमी दूसरे के घरों में गृहस्थ-सम्बन्धी फुटकर काम करते हैं, कुछ खेतों, बगीचों, दुकानों या कार्यालयों आदि का काम करते हैं। इनमें से कितने ही तो अपने मालिक के यहाँ ही रहते हैं, उनके भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था मालिक की ओर से ही होती है। दूसरे ऐसे भी नौकर होते हैं, जिन्हें अपने भोजन-वस्त्र तथा आवास की व्यवस्था स्वयं करनी होती है, मालिक के यहाँ से उन्हें निर्धारित वेतन दे दिया जाता है।

पहले अनेक स्थानों में नौकरों से बड़ा कठोर व्यवहार रहा है। उन्हें जो भोजन दिया गया, वह प्रायः बहुत घटिया, बासी और अपुष्टि-कर रहा, और कुछ दशाओं में अपर्याप्त भी। इसी प्रकार उन्हें कपड़ा भी फटा-पुराना और बहुधा आवश्यकता से कम। उनके रहने का स्थान भी बहुत खराब, तंग और हवा और रोशनी की कमी वाला। अब भी

इसमें यथेष्ट सुधार नहीं हुआ है। स्वार्थी आदमी अपने नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना और उनके पारिश्रमिक के रूप में यथा-सम्भव कम-से-कम देना चाहता है, चाहे वह पारिश्रमिक जिस के रूप में हो, या नकदी के रूप में। तथापि अब जनता में सुधार के भाव जागरित हो रहे हैं, एक तरफ तो स्वयं नौकरों में ही इस भावना का उदय हो गया है कि हम मालिक के मनमाने व्यवहार का क्यों सहन करें, हमारे भी अधिकार हैं, हमें जीवन-निर्वाह की अच्छी सामग्री मिलनी चाहिए। दूसरी ओर, जहाँ-तहाँ थोड़े-बहुत आदमियों की यह मान्यता होती जा रही है कि नौकरों पर रौब जमाने से जो काम होता है, प्रेम और आत्मीयता से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक और अच्छा होता है। जिन नौकरों से स्नेह-भाव रखा जाता है, वे केवल जाप्ते का काम न निपटा कर हर बात में घर की हानि-लाभ का विचार रखते हैं, और बालकों के प्रति यथेष्ट सद्भावना का परिचय देते हैं। इसके अतिरिक्त, कोई विचारवान व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि दूसरों से अच्छा व्यवहार करके हमें अपनी मानवता का विकास करने का अवसर मिलता है।

अस्तु, अब कितने ही आदमी नौकरों को बहुत नीचे दर्जे का नहीं मानते, उनसे स्नेह का व्यवहार करते हैं, और उनके दुख-दर्द में सहानुभूति रखते हुए आवश्यक व्यवस्था करते हैं। यहाँ तक कि ऐसे सज्जनों का भी अभाव नहीं है, जो नौकरों को परिवार के आदमी मानते हैं और उन्हें नौकर कहना भी अनुचित समझते हैं। वे उन्हें एक सहायक या मददगार के रूप में काम करने वाला मानते हैं। अवश्य ही ऐसे मानवता-प्रेमी अभी बहुत कम हैं, पर आशा है इस दिशा में प्रगति होगी, और मनुष्य मनुष्य का यथेष्ट मूल्यांकन करेगा।

ग्राम और देश का प्रेम; अहिंसा का विस्तार—आदमी को अपने पड़ोसियों से नित्य काम पड़ता है। इसी प्रकार एक गाँव या नगर में रहने वालों का तो कई बातों में सुख-दुख समान ही होता है।

एक गाँव में बीमारी फैल जाने से सभी को उसके खतरे की आशंका होती है, गाँव में आदमी सज्जन और सुसंस्कृत होते हैं तो सभी को उसका लाभ मिलता है। इसलिए एक गाँव के आदमियों का एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार करना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि अज्ञान या स्वार्थ-वश कभी-कभी एक ही गाँव के आदमी भी आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, साधारणतया वे एक-दूसरे के हित की बात सोचते और करते हैं। लोगों में निजी मालकियत की भावना होना उनके प्रेम और सहयोग के बढ़ने में बहुत बाधक है, इस लिए भारत में श्री विनोबा ने जो भूदान का कार्य चलाया है, जो अब ग्रामदान के स्तर पर हो रहा है, उसमें जनता को मालकियत के विसर्जन की बात समझायी जा रही है, और उसके लिए लोकमानस बनाया जा रहा है।

एक देश के आदमियों में भी एकता की भावना होती है। देश-प्रेम की भावना जागरित होने पर देश भर के आदमी एक-दूसरे व्यक्ति के लिए तथा देश के लिए बड़े-बड़े कष्ट उठाते हैं। प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे नर-नारियों, युवक और वृद्धों के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जिन्होंने अपनी मातृभूमि की सेवा में तन-मन-धन न्यौछावर कर दिया। किसी ने लोगों के शारीरिक भरण-पोषण की या स्वास्थ्य और चिकित्सा की चिन्ता की, किसी ने उन्हें मानसिक या आध्यात्मिक भोजन देने में जुटे रहने में अपने जीवन की सार्थकता समझी। प्राचीन काल में आदमी प्रायः छोटे-छोटे प्रदेशों को ही अपनी मातृ-भूमि मानते थे इसलिए उनकी सेवा और प्रेम का क्षेत्र बहुत संकुचित होता था। पीछे धीरे-धीरे देशों का आकार बढ़ने के साथ-साथ अहिंसा का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता गया।

राज्य के भीतर अहिंसा—मनुष्य ने अपने सामूहिक जीवन में क्रमशः अहिंसा की ओर प्रगति की है। परन्तु वह सीमित क्षेत्र में ही। उदाहरणार्थ सामाजिक क्षेत्र में वह अपने परिवार तथा रिश्तेदारों से

आगे बढ़ कर जाति-बिरादरी तक आया, परन्तु विशाल मानव जाति तक नहीं पहुँचा। धार्मिक क्षेत्र में वह प्रायः अपने-अपने धर्म की सीमा के भीतर रह गया, बाहर वालों को उसने अपनी अहिंसा और प्रेम का उतना अधिकारी न माना। राजनैतिक क्षेत्र में आदमी प्रायः अपनी पार्टी या दल का अन्ध-भक्त बना हुआ है, अपने दल के अनुचित कार्यों को भी ठीक मानता है।

वर्तमान अवस्था में राज्य अन्य सब समुदायों से ऊपर है, उसका सब पर नियंत्रण रहता है। राज्य अपनी सीमा के भीतर प्रायः एक समुदाय के आदमी को दूसरे समुदाय के आदमी से हिंसक व्यवहार करने से रोकता है। इस प्रकार एक राज्य के सब समुदायों के आपसी व्यवहार में हिंसा बहुत कुछ रुकी रहती है। राज्य के भीतर अहिंसा बनाये रखने का प्रयत्न होता है और वह कुछ सफल भी होता है।

विशेष वक्तव्य—राज्य के अन्दर अहिंसा बढ़ी है। पर वही पर्याप्त नहीं है। समस्त मानव जाति में, विश्व भर में अहिंसा का व्यवहार होना चाहिए। हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विचार आगे करेंगे। अगले अध्याय में राज्य के विषय में कुछ आवश्यक बातें देखलें।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

अहिंसा और राज्य

राज्य हिंसा का संगठित और केन्द्रित रूप है; व्यक्ति की आत्मा है, पर राज्य आत्मा-रहित मशीन है। उसे हिंसा से बचाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति हिंसा से है।

—गांधी जी

समाज की प्रगति में तीन हालतें होती हैं। पहली हालत में जंगल-नियम का—हिंसा और स्वार्थ का—दौर-दौरा होता है, दूसरी हालत में कानून और निस्पक्ष न्याय का। तीसरी में अहिंसा और निस्स्वार्थ भाव का आधिपत्य होता। है सभ्य मानव जाति का सर्वोच्च उद्देश्य यही है।

—राधाकृष्णन

राज्य की स्थापना होने से मनमानी हिंसा पर रोक— राज्य की स्थापना से पहले, जब दो आदमियों का झगड़ा होता था, तो अकसर वह झगड़ा दो परिवारों या दो टोलियों का हो जाता था, और दोनों की हिंसा-प्रतिहिंसा वर्षों और पीढ़ियों तक चलती थी। शासन-व्यवस्था स्थापित करके आदमी ने क्रमशः अपने शत्रु से बदला लेने या विरोधी को दंड देने का काम शासन को सौंपा। लोगों का अपने आपसी झगड़ा निपटाने की यह व्यवस्था आरम्भ में बहुत लाभकारी प्रमाणित हुई।

श्री विनोबा ने सर्वोदय सम्मेलन, पुरी (मार्च १९५५) के अन्तिम प्रार्थना-प्रवचन में कहा था—'अपना यह मानव समाज जब से

अस्तित्व में है—कोई नहीं जानता कि कब से है—तब से उसमें प्रेम के साथ झगड़े भी चलते ही रहे हैं। उस कदीम जमाने में, जो कि मानव समाज का आरम्भ-काल माना जाता है, स्वैर हिंसाएँ चलती थीं और उन हिंसाओं का निपटारा या उसका प्रतिशोध वैसी ही स्वैर हिंसाओं से किया जाता था। उसमें से आखिर समाज की हालत कुछ बिगड़ती गयी और कुछ सुधरती गयी। आखिर यह एक युक्ति समाज को सूझी कि स्वैर हिंसा के बदले व्यवस्थित हिंसा की जाय तो वह स्वैर हिंसा रुक जायगी। परिणाम-स्वरूप, जिसे हम दंड-शक्ति कहते हैं, और शासन भी कहते हैं, उसका आरम्भ हुआ। व्यवस्थित हिंसा अर्थात् दंड-शक्ति पहले-पहल कारगर साबित हुई। उसने स्वैर हिंसा को रोका और चन्द दिनों तक वह सीमित अवस्था में रही, लाभकारी साबित हुई। इसलिए मानव ने उसे धर्म का अंग समझा।'

हिंसा सीमित और व्यवस्थित हुई—राज्य की स्थापना का परिणाम यह हुआ कि अब अगर राम ने मोहन को कुछ मारा-पीटा या जान से मार डाला तो मोहन या उसके मित्र आदि राम को मन-मानी चोट नहीं पहुँचा सकते या उसको मार नहीं डालते। राज्य का न्यायालय जितना उचित समझे उतना ही दंड मोहन को देगा। वह चाहे तो राम को फाँसी भी दे दे पर इसके बाद मामला खतम। पीछे दोनों व्यक्तियों के परिवारों या मित्रों का कोई आपसी झगड़ा नहीं; अगली पीढ़ी तक तो हिंसा की भावना बनी रहने की कोई बात ही नहीं। इस प्रकार राज्य की स्थापना से हिंसा परिमित या सीमित हो गयी और वह स्वच्छन्दता-पूर्वक न होकर व्यवस्थित रूप से, नियम या कायदे-कानून के अनुसार होने लगी। एक बात यह भी हुई कि ज्यों-ज्यों राज्य का क्षेत्र बढ़ता गया, उतना ही बड़े-बड़े क्षेत्रों के सब निवासी अपने-आपको एक राज्य का नागरिक मानने लगे और इसलिए एक भाग के निवा-सियों की दूसरे भाग वालों से लड़ाई होनी बन्द हो गयी, जो कि पहले होती थी जब वे भाग जुदा-जुदा थे।

राज्य द्वारा हिंसा का विस्तार—इस प्रकार राज्य, अहिंसा की दृष्टि से, आरम्भ में बहुत लाभकारी हुआ। पर पीछे जाकर यह बात न रही। राज्यों की पुलिस, फौज और शस्त्रास्त्र रूपी हिंसक सामग्री क्रमशः बढ़ती गयी। इतिहास-पाठक जानते हैं कि अनेक बार जिस व्यक्ति या दल का शासन हुआ, उसने अपने विरोधियों के प्रति कैसी क्रूरता का परिचय दिया। सैंकड़ों हजारों निरपराध आदमियों को बुरी तरह मौत के घाट उतारा गया, केवल इसलिए कि वे उस शासक या शासन-संस्था का सत्तारूढ़ होना नहीं चाहते थे। फिर शासकों की तृष्णा बढ़ी, हरेक ने अपने राज्य का विस्तार करने का भरसक प्रयत्न किया। फल-स्वरूप युद्धों का तांता लग गया। युद्धों में नये-नये और अधिकाधिक घातक अस्त्रों का प्रयोग होने लगा, और युद्धों का क्षेत्र भी किसी खास मैदान तक सीमित न रह कर देश-व्यापी होने लगा। यही नहीं,एक-एक पक्ष में कई-कई राष्ट्र होने लगे और युद्धों ने महायुद्ध या विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लिया। इनमें कितनी नर-हत्या होती है, कितने आदमी जख्मी होते हैं, और कितने बालक, स्त्रियाँ और बूढ़े अनाथ और असहाय हो जाते हैं। इस प्रकार जैसा विनोबा ने पूर्वोक्त प्रवचन में कहा है—

'यह दंड-शक्ति, जिसमें व्यवस्थित हिंसा थी और आरम्भ में सीमित हिंसा थी, फिर सीमित नहीं रह पायी और आहिस्ता-आहिस्ता उसकी सीमा विस्तृत होती चली गयी। व्यवस्थित तो रही वह। व्यवस्थित नहीं रहती तो शासन न कर पाती, दंड-शक्ति न कहलाती। इस वास्ते, व्यवस्थित तो वह रही, लेकिन सीमित न रहते हुए विस्तृत होती गयी, चौड़ी होती गयी। होते-होते आज उसने अतिहिंसा का रूप ले लिया है। तो, आज मानव भयभीत है और शायद इस समय सारा मानव समाज जितना भयभीत है, उतना मानव के इतिहास में वह कभी नहीं रहा होगा। ऐसा कहने में किसी तरह से कल्पना-गौरव नहीं होगा; क्योंकि

जहाँ तक हम जानते हैं, इतने व्यापक परिमाण में मानव कहीं फैला ही नहीं था। दुनिया में इतनी व्यापक शक्तियाँ शायद उसको हासिल नहीं हुई थीं।'

राज्य एक आवश्यक बुराई—राज्य द्वारा होने वाले शोषण और पीड़न को देख कर विचारशील मनुष्यों की इसके प्रति श्रद्धा न रही, वे इसे एक वरदान के बजाय अभिशाप समझने लगे। यह सोचा जाने लगा कि मनुष्य को राज्य की आवश्यकता क्यों है, क्या इसके बिना काम नहीं चल सकता। धीरे-धीरे इस नतीजे पर पहुँचा गया कि राज्य की आवश्यकता इस लिए होती है कि आदमी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और भय आदि दुर्गुण हैं, और समाज की सुव्यवस्था के वास्ते इनका नियंत्रण होना चाहिए। आदमी अभी बहुत अपूर्ण है, अविकसित है। इस लिए मौजूदा हालत में समाज को शासन की आवश्यकता है। यद्यपि यह एक बुराई है, पर है आवश्यक।

शासन-मुक्ति या शासन-निरपेक्षता का विचार—इस विचारधारा ने शासन-मुक्ति अर्थात् शासन से छुटकारा पाने की भावना को जन्म दिया। अन्यान्य लेखकों में मार्क्स ने ऐसे समाज की कल्पना की, जिसमें शासन की जरूरत न होगी। हाँ, उसने वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखते हुए अपने आदर्श समाज का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हिंसा-मार्ग की स्वीकृति दी। उस देश-काल में उसे दूसरा मार्ग न सूझना स्वाभाविक था और अन्तिम लक्ष्य के रूप में शासन की अनावश्यकता का प्रतिपादन करना—जब कि समाज में शासन का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता जा रहा था—इतिहास में एक बड़ी बात थी। मार्क्स की यह बात क्रमशः अधिकाधिक आदमी मान्य करते रहे।

शासन-मुक्ति की बात बहुत अजीब या काल्पनिक प्रतीत होती हो तो शासन-निरपेक्षता का विचार किया जा सकता है। शासन-निरपेक्ष होने का अर्थ यह है कि शासन रहे तो सही, पर जनता को उसकी विशेष

आवश्यकता न हो, वह उस पर निर्भर न रहे, अपने रोजमर्रा के साधारण कार्य में उसे उसकी कुछ जरूरत न रहे, सब काम-काज स्वयं ही व्यवस्थित रूप से चलता रहे, मानो शासन-संस्था है ही नहीं। ऐसा अवसर बहुत ही कम आवे, जब जनता को उसका उपयोग करना पड़े; जैसे कि रेल में खतरे की जंजीर रहती तो है, पर गाड़ी के चलने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। साधारणतः, यात्रियों का ध्यान उसकी ओर नहीं जाता, केवल विशेष घटना के अवसर पर ही उसका उपयोग करने की जरूरत मालूम होती है।

आत्मशासन ही सच्चा स्वराज्य—आदर्श तो यही हो सकता है, और होना चाहिए कि समाज में शासन बिलकुल न रहे। गाँधीजी ने कहा है—आत्मशासन ही सबसे सच्चा स्वराज्य है। स्वशासन का मतलब है, सरकारी नियंत्रण से स्ववतंत्र होने की लगातार कोशिश। अगर लोग जीवन की हर बात का संचालन करने के लिए सरकार का मुँह देखें, तो स्वराज्य-सरकार तो एक अफसोस की चीज बन जायगी। ऐसे (आदर्श) राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा। वह आत्मशासन इस ढंग से करेगा कि वह कभी भी अपने पड़ोसी के मार्ग में बाधक नहीं होगा। इसलिए आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ राज्य जैसी कोई चीज ही नहीं होगी। परन्तु जीवन में आदर्श कभी पूर्ण रूप में कार्यान्वित नहीं होता। इसीलिए थोरो का यह प्रसिद्ध वक्तव्य सच है कि 'सर्वश्रेष्ट सरकार वही है, जो शासन-कार्य कम-से-कम करे।'*

जैसा कि श्री भारतन कुमारप्पा ने लिखा है—'अगर इस प्रकार के स्वशासन को ही अन्तिम ध्येय बनाना है, तो यह मुख्य रूप से स्वयं व्यक्ति की ही जिम्मेदारी है और राज्य द्वारा इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु राज्य की भी अपनी जिम्मेदारी होती

* 'गांधी-मार्ग', वर्ष १, अंक २

है। उसे यह देखना पड़ता है कि व्यक्ति के आत्म-विकास में बाधाएँ न पड़ें। इसे अधिक स्पष्ट रूप में इस तरह कहा जा सकता है कि वह ऐसी अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्ति को अपने आप पर नियंत्रण में सहायता प्राप्त होती है। राज्य व्यक्ति को नीतिमान नहीं बना सकता; पर उसे ऐसी स्थितियों की स्थापना करनी चाहिए, जिनसे नैतिकता का निर्माण संभव होता है।'

अहिंसक लोकतंत्र का आधार आत्म-संयम; स्वयं-पूर्ण इकाइयां—आज कल लोकतंत्र की धूम है। अमरीका अपने शासन को लोकतंत्र का कहता है। इंगलैंड अपनी शासन-पद्धति लोकतंत्र बतलाता है। रूस भी लोकतंत्र होने का दावा कर सकता है। पर किसी में वास्तविक लोकतंत्र नहीं है। जरा जोर पड़ने पर, संकट आने पर संगठन टूट जाता है। प्रत्येक राज्य किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (मंत्रि-मंडल) के प्रभाव में होता है। शासन का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है, जब कि सच्चे लोकतंत्र में वह नीचे से ऊपर की ओर होना चाहिए। भारत का शासन लोकतंत्री होने की बात कही जाती है; वह वास्तव में ऐसा तभी हो सकता है, जब वह अहिंसक हो—अपनी शक्ति जनता से ग्रहण करे।

अन्य बातों में चाहे जो भिन्नता हो, यह निश्चित है कि लोकतंत्र की बुनियाद भोग में नहीं हो सकती, उसका आधार तो ऐसी पद्धति में ही मिलेगा जो आत्म-संयम की ओर ले जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए श्री जो० का० कुमारप्पा ने कहा है—'हमें अपने शासन की चोटी पर जनता की सेवा के लिए ऐसे दीर्घ-दृष्टि लोगों को ही चुनना है, जिनमें कोई वैयक्तिक धन-लालसा नहीं है जिनकी दृष्टि अल्प नहीं है, यदि सत्ता को उनके हाथ में जाने दिया गया तो वे अपना ही स्वार्थ साधेंगे, इसलिए हमारे जनतंत्र का आधार ऐसी स्वयंपूर्ण इकाइयाँ होनी चाहिएँ, जिनमें लोग अपना शासन खुद ही करेंगे। आज हम

उन्हें अपने-अपने गाँवों की ही व्यवस्था करने दें। फिर, ज्यों-ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जायगा, वे तालुका, जिला, प्रान्त और केन्द्र का शासन भी सम्हाल लेंगे। इसलिए जरूरत इस बात की है कि शासन हम उनके ही हाथ में दें, जिनमें आत्म-शासन और आत्म-संयम के गुण हों।'*

शासन विकेन्द्रित हो—राज्य की हिंसा कम करने के लिए गांधी जी ने यह विचार और कार्यक्रम रखा, और अब विनोबा यही स्पष्ट कर रहे हैं कि सरकार की शक्ति या सत्ता बहुत कम हो, वह अधिक-से-अधिक विकेन्द्रित हो। अधिकारों का मूल श्रोत सर्वसाधारण को माना जाय। जनता की स्थानीय संस्थाएँ अपने सब स्थानीय कार्यों में—सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा और सफाई सम्बन्धी, राजनैतिक, न्यायिक, तथा रक्षा में भी—स्वावलम्बी हों। वे अपने क्षेत्र का अधिक से अधिक काम स्वयं निपटावें, ऊपर के आदेशों पर निर्भर न रहें। स्थानीय संस्थाएँ कम-से-कम और अनिवार्य विषय प्रादेशिक सरकारों को सौंपे और प्रादेशिक सरकारें कुछ खास-खास इने-गिने विषयों के अधिकार केन्द्रीय सरकार को दें। इस प्रकार शासन के ज्यादा से ज्यादा अधिकार नीचे की इकाइयों ग्राम-पंचायतों या नगर-पंचायतों को प्राप्त हों। ऊपर के संगठनों के अधिकार सिर्फ वे हों जो नीचे की इकाइयाँ देना बहुत ही जरूरी समझें। निर्वाचन में भी यही दृष्टि रहे। शासन की नीचे की इकाइयों का चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर, प्रत्यक्ष रूप में हो, इन संस्थाओं के सदस्य प्रादेशिक विधान-सभाओं के सदस्यों को, और प्रादेशिक विधान-सभाओं के सदस्य केन्द्रीय संसद के सदस्यों का चुनाव करें।

शासन का रूप जितना अधिक विकेन्द्रित होगा, आत्म-शासन जितना बढ़ेगा, व्यक्ति जितना अधिक अनुशासित होगा—राज्य उतना

* देखिए 'सर्वोदय', जून १९५१

ही कम हिंसक होगा। आदर्श तो यही है कि राज्य-शासन बिलकुल ही न रहे, परन्तु यदि वह अभी रहता है तो जब तक रहे उसे कम-से-कम सत्तावान करके रखना है; व्यक्ति यथा-सम्भव उसके अधीन न हो, वह यदि शासन-मुक्त न हो सके तो शासन-निरपेक्ष तो हो ही। इस प्रकार राज्य की हिंसा उत्तरोत्तर घटाने की इच्छा है। अब सर्वोदय विचार-धारा के प्रस्तुत होने से उस इच्छा की पूर्ति अधिक सम्भव तथा व्यावहारिक होगी, यह आशा है।

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि शासन में एक बुराई होते हुए भी इस समय आवश्यक है। स्पष्ट है कि यह जरूरी नहीं कि मानव समाज को हमेशा ही इसको आवश्यकता बनी रहे। वर्तमान अवस्था में इसकी आवश्यकता का कारण मनुष्य की अपूर्णता या विकास की कमी है। ज्यों-ज्यों यह कमी दूर होगी, मनुष्य अधिक स्वयं-अनुशासित होगा, उसे राज्य की आवश्यकता उतनी ही कम रहती जायगी। यदि मनुष्य के हृदय में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि शासन एक बुराई है, और इसका अन्त करना आवश्यक है और वह दृढ़ता और धैर्य-पूर्वक इसका अन्त करने के प्रयोग करता रहे, सर्वोदय की दिशा में बढ़ता रहे, तो एक समय ऐसा अवश्य आयेगा—चाहे वह कभी भी आये—जब शासन का अन्त हो जायगा, फिर इसके द्वारा होने वाली हिंसा स्वयं ही समाप्त हो जायगी।

उन्तीसवां अध्याय

अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

जैसा-जैसा विज्ञान बढ़ रहा है संकुचित सेवा के क्षेत्र खत्म होते जा रहे हैं। संकुचित सेवा का विचार इस जमाने के अनुकूल नहीं है। अब तो जाति-धर्म-पक्ष-निरपेक्ष जन-सेवा का प्रकार ही सच्ची सेवा का प्रकार है।

—विनोबा

विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का निर्माण किया जाय, जिसमें विभिन्न राष्ट्र पृथक्-पृथक् रूप से अपने ही हितों की बात न सोचें, वरन् दूसरों के हितों पर भी उनका ध्यान रहे और परस्पर एक दूसरे का हित करने के लिए त्याग करने को भी तत्पर रहें।

—'सर्वोदय संयोजन'

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा की प्रधानता—प्रत्येक राज्य अपनी सीमा के भीतर तो विविध समुदायों की हिंसा को रोकता है, परन्तु दूसरे राज्यों के प्रति अहिंसक रहने की उन्हें प्रेरणा नहीं देता, उल्टे हिंसा को प्रोत्साहन देता है। फिर, जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, राज्य तो स्वयं हिंसा के आधार पर संगठित होता है। उसका बल शारीरिक या आर्थिक दंड, पुलिस और फौज होती है। अस्तु, हिंसा बनी हुई है, और काफी बढ़ी हुई है।

श्री आचार्य कृपलानी जी ने लिखा है—'सभ्य देशों में विविध प्रकार से जीवन अधिक सरल और परिष्कृत, अपेक्षाकृत कम कठोर और कम पाशविक बन गया है। पर ज्योंही हम व्यक्ति और सामाजिक क्षेत्र को छोड़ कर अन्तर्सामूहिक, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की ओर देखते हैं

तो हमें मालूम पड़ता है कि समाज ने प्रगति नहीं की है, बल्कि कई बातों में वह पीछे चला गया है। समूहों के बीच और विशेषतः राष्ट्र-नामधारी समूहों के बीच सदाचरण, सज्जनों की आचार-नीति के दर्शन नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे घृणा-जनक पाखंड से पूर्ण हैं जिनसे आज कोई धोखा नहीं खा सकता। असत्य, यहाँ तक कि खुली बेइमानी, की राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार पर गहरी छाप है। जासूसी, धोखा, झूठ और द्वेषपूर्ण प्रचार को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अत्यन्त निर्लज्जता-पूर्वक उचित, संगत अस्त्रों के रूप में अपनाया जाता है। रिश्वत, झांसा-पट्टी, धोखा, हिंसा, चोरी, आगजनी और हत्या सभी का सामूहिक सम्बन्धों में अपना स्थान—महत्वपूर्ण स्थान—है, मानव जीवन की कोई कीमत नहीं है। राजनीतिज्ञों द्वारा आदमी ऐसे साधनों की पूर्ति में तोपों की खुराक बना लिये जाते हैं, जो खुद उन्हीं के सामने स्पष्ट नहीं होते। आर्थिक जीवन शोषण से भरा है। प्रत्येक दल या समूह ऐसे लाभ या सुविधाएँ चाहता है, जिनकी कीमत देने को तैयार नहीं। अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों में अहंकार, उद्दंडता तथा जाति एवं वर्ण-द्वेष का बोल-बाला है। यद्यपि युद्ध अब पहले से कम होते हैं, पर वे पहले से अधिक भयानक और क्रूर हो गये हैं। उनके सामने कुछ भी पवित्र नहीं, कुछ भी सुरक्षित नहीं। पुजारी और भक्त कलाकार और साहित्यकार, वैज्ञानिक और तत्वज्ञानी, कारीगर और किसान सब को निर्दयतापूर्वक खाइयों और मोर्चों की ओर धकेल दिया जाता है।'*

दुरंगी सदाचार नीति विनाशकारी —अपने समूह या राज्य के अन्दर नागरिक की यथा-सम्भव अहिंसा की चेष्टा परन्तु समूह या राज्य से बाहर हिंसा की प्रबलता—यह दुरंगी नीति क्यों! इस पर विचार करते हुए आचार्य कृपलानी ने लिखा है—'मानवता ने शताब्दियों से दो प्रकार के नैतिक मूल्यों को न केवल सहन किया है, बल्कि उन्हें मान लिया है। जो बात व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में अच्छी

* 'गांधी मार्ग' पुस्तक से

समझी जाती है, वही समूहों के बीच व्यवहार में बुरी मानी जाती है। निजी जीवन में हम सदाचरण और परम्परा के नियमों से बंधे हुए हैं परन्तु समूह-जीवन में ऐसी कोई बाध्य करने वाली आवश्यकता नहीं है। अगर कोई राजनीतिज्ञ और राष्ट्र का प्रतिनिधि बन कर दूसरे देश को जाता है तो उसके आचरण में असत्य और बेईमानी भरी होती है। वह अपने राष्ट्र या राज्य के वास्तविक या काल्पनिक हित की वृद्धि के लिए कोई भी तरीका या किसी प्रकार के एजण्ट इस्तेमाल कर सकता है। गोपनीयता, वंचना और धोखा उसके आचरण के प्रधान अंग होते हैं। एक झूठे और धूर्त के लिए किसी अच्छे समाज में कोई स्थान नहीं होता, पर राजनैतिक क्षेत्र में, विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, ऐसे ही लोगों का सम्मान किया जाता है। वे राष्ट्र की कौंसिलों में ऊँचे स्थान प्राप्त करते हैं। एक व्यक्ति जो अपने पड़ोसी की कानून सम्मत जायदाद छीन या ले लेता है, चोर कहलाता है; लेकिन जो सेनापति पड़ोस के देश पर सफल आक्रमण करता है, वीर नायक का सम्मान प्राप्त करता है। कोई समाज चाहे कितना ही संस्कृत और परिष्कृत हो, आतंकवादी, बम-वर्षक या आक्रमक के लिए अपने दरवाजे बन्द नहीं कर सकता। अगर ऐसे समाज-द्रोही व्यक्ति अपने-अपने मजहब के परम्परागत आचारों का पालन करते हैं तो उनका विभाजन अच्छे मुसलमानों, अच्छे हिन्दुओं और अच्छे ईसाइयों के रूप में किया जाता है।....व्यक्तिगत जीवन में बुद्ध या ईसा के नियम और समूह जीवन में मूसा के, बल्कि उससे भी गये गुजरे नियम! सार्वजनिक और राजनैतिक जीवन का तो सदाचरण से बहुत ही कम सम्पर्क हुआ मालूम पड़ता है। इस क्षेत्र में केवल सफलता का महत्व है। व्यक्तिगत और समूह सम्बन्धी सदाचरण में—नीति में—चौड़ी और न भरने वाली खाई आ पड़ी है।....व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति के साथ-साथ यदि समूहगत और राजनैतिक प्रतिगामिता चलती रहेगी तो स्थायी उन्नति के लिए आवश्यक संतुलन नष्ट हो जायगा।'

राज्यों का आपस में अहिंसात्मक व्यवहार—साधारणतया इतिहास पढ़ने से पाठक की यही धारणा होती है कि राज्यों का जीवन युद्धों से ओतप्रोत रहा है। उन्होंने आपस में अहिंसात्मक व्यवहार करने की नीति अपनायी, यह बात मन में विशेष स्थान नहीं करती। तथापि युद्धों और संघर्षों के साथ-साथ शान्ति, मेल और सहयोग के प्रयत्न भी बराबर होते रहे हैं, चाहे उनकी यथेष्ट चर्चा इतिहास-ग्रन्थों में न हुई हो। उन प्रयत्नों का कुछ स्वरूप पाठकों के सामने उपस्थित करने के लिए हम यहाँ दो-एक उदाहरण उपस्थित करते हैं।

अब से ढाई हजार वर्ष पहले यूनान के नगर-राज्यों ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य यह था कि उनके आपसी युद्धों को रोके, और यदि युद्ध हो ही जाय तो वह सर्वथा अनियंत्रित न हो, उसमें कुछ नियमों का पालन हो। इन यूनानी राज्यों ने एक संधिपत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरों को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मन्दिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचाएँगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नहीं डालेंगे; और जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे।

इसके दो सौ वर्ष बाद की बात है। भारत में सम्राट् अशोक दूसरे देशों को जबरदस्ती जीतना बन्द करता है और राजकीय आज्ञाओं तथा शिला-लेखों द्वारा सब से प्रेम और सहिष्णुता की अपील करता है। यही नहीं, वह अपने उत्तराधिकारियों को भी अहिंसा पथ पर चलने को कहता है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

एक चिर-स्मरणीय घोषणा—आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए जो विविध संधियाँ और समझौते हुए और संगठन बने, उनका पाठकों को सहज ही ज्ञान हो सकता है। हम यहाँ एक सौ बीस वर्ष पहले की एक अहिंसा-घोषणा का परिचय देते हैं* जो उस

* 'लोकवाणी' में प्रकाशित श्री जवाहिरलाल जैन के एक लेख से।

अमरीका के एक नेता द्वारा प्रस्तुत किया गया था, जो दुर्भाग्य से आज-कल अणु-बम जैसे हिंसक अस्त्रों के निर्माण में अग्रसर है।

उत्तरी अमरीका के नीग्रो लोगों की गुलामी से मुक्ति के आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता और समर्थक विलियम लायड गैरिसन ने १८३८ में एक शान्ति-संस्थापन परिषद् में युद्ध रोकने के साधनों के विषय में एक विचार-विनिमय में भाग लिया था। श्री गैरिसन इस नतीजे पर पहुँचे कि विश्व-शान्ति की स्थापना, बुराई का हिंसा के द्वारा अप्रतीकार के सिद्धान्त पर आधारित, खुले घोषणा-पत्र के द्वारा ही सम्भव है। उन्होंने परिषद् के सामने एक घोषणा-पत्र पेश किया, वह स्वीकृत हुआ और उस पर उसके बहुत से सदस्यों ने हस्ताक्षर किये। उक्त घोषणपत्र के कुछ विचारणीय और मननीय अंश ये हैं—

'हमारा देश यह समग्र विश्व है। सारा मानव-समाज हमारे देश-वासी हैं। हमारा अपनी जन्मभूमि के प्रति उतना ही प्रेम है, जितना अन्य सब भूमियों के प्रति। अमरीकी नागरिकों के हित और स्वार्थ हमें समग्र मानव जाति के हितों से अधिक प्रिय नहीं हैं। अतः किसी भी राष्ट्रीय अपमान या हानि के प्रतिकार में देशभक्ति का दावा हमें मन्जूर नहीं है।

'हम केवल युद्ध को गैर-ईसाईयत और गलत मानते हैं, चाहे वह आक्रमणात्मक या सुरक्षात्मक हो, बल्कि युद्ध की सारी तैयारी को किस नौसेना के जहाज, शस्त्रागार या किलेबन्दी को भी ऐसा ही मानते हैं। हम किसी भी स्थायी सेना के अस्तित्व को, सारे सैनिक अधिकारियों तथा सैनिकों को, हारे हुए शत्रु पर प्राप्त विजय के स्मारकों को युद्ध में प्राप्त सारे विजय-चिन्हों को, सैनिक विजयों के उपलक्ष में सारे समा-रोहों को और सैनिक शक्ति से नये प्रदेशों की प्राप्ति को—हम गैर-ईसाईयत और गलत मानते हैं। हम सरकार की हरेक आज्ञा को जो

प्रजा से सैनिक सेवा की मांग करती है गलत—और गैर-ईसाईयत मानते हैं।

'इस सबके परिणाम-स्वरूप हम शस्त्र धारण करना या किसी पद पर काम करना, जिसमें मनुष्य को कैद या मौत की सजा के बल पर किसी काम के लिए मजबूर किया जाय, गैर-कानूनी मानते हैं। इस लिए हम स्वेच्छापूर्वक स्वयं को हरेक कानून-निर्माण तथा न्यायालय सम्बन्धी संस्था से अलग कर लेते हैं और सारी मानव-राजनीति सांसारिक सम्मानों और अधिकार के पदों को अनुचित मानते हैं।

'जब हम स्वयं धारा सभा या न्यायालय में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर सकते तो हम दूसरों को भी इस रूप में अपने प्रतिनिधि की तरह काम करने के लिए नहीं चुन सकते।

'इसका यह अर्थ भी है कि अगर किसी ने गलत रूप से भी हमसे या दूसरों से कोई चीज जबर्दस्ती ले ली हो तो हम उसे वापिस करने के लिए उस पर मुकदमा नहीं चला सकते। बल्कि यदि उसने हमारा कोट छीन लिया हो तो उसे सजा दिलवाने के बजाय हम उसे अपना लबादा और दे देंगे।

'हमारा विश्वास है कि पुराने इकरारनामे (Old Testament) का दण्ड-विधान जिसमें आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दांत का निर्देश है, ईसामसीह द्वारा नये इकरारनामे (New Testament) के जरिये रद्द कर दिया गया है। इसमें सब मामलों में सब अनुयायियों के द्वारा शत्रु को दंड देने के बजाय क्षमा करने का ही आदेश है। शत्रुओं से रुपया लेना, उन्हें कैद करना, उन्हें निर्वासित करना या फाँसी देना—यह सब भी उन्हें क्षमा करना नहीं—बल्कि बदला लेना है।

'मानव जाति का इतिहास इस प्रकार के प्रमाणों से भरा पड़ा है जो शारीरिक दंड की नैतिक पुनर्जीवन के लिए व्यर्थता सिद्ध करते हैं। वे यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य की पापमय प्रवृत्ति को प्रेम के

द्वारा ही वश में लाया जा सकता है। हमें हानि से रक्षा के लिए शस्त्र के बल पर भरोसा नहीं करना चाहिए। वास्तविक सुरक्षा तो नम्रता, सहनशीलता और करुणा में निवास करती है, और जो नम्र और मूक हैं वे ही पृथ्वी के उत्तराधिकारी होंगे और इसके विपरीत, जो हिंसक तलवार का सहारा लेते हैं वे निश्चय तलवार से ही नष्ट हो जाने वाले हैं।

'और इसीलिए जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, सार्वजनिक शान्ति और व्यक्तिगत भलाई इन सब की दृष्टि से और उस ईश्वर की इच्छा-पूर्ति के लिए जो राजाओं का राजा और स्वामियों का स्वामी है, हम हार्दिक रूप से अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, क्योंकि हमें इस बात का विश्वास है कि अहिंसा ही सब सम्भावनाओं में कारगर होने वाली है और यह ईश्वर की इच्छा की अभिव्यक्ति है, अतः अन्त में बुराई की प्रत्येक शक्ति पर विजय प्राप्त करेगी। हम कोई क्रांतिकारी सिद्धान्तों का समर्थन नहीं करते। क्रान्तिकारी सिद्धान्त की भावना बदले, हिंसा, कत्ल की भावना है और वह न ईश्वर का भय करता है और न मानव का सम्मान करता है। हम तो ईसामसीह की भावना से ओतप्रोत होना चाहते हैं। हम बुराई का प्रतिकार बुराई से न करने के मौलिक नियम के समर्थक हैं, अतः हम षड्यन्त्रों, दंगों, अशांतियों या हिंसा में भाग नहीं ले सकते। हम सरकार के उन सभी आदेशों और मांग की पूर्ति करेंगे जो ईसाई धर्म की आज्ञा के विपरीत न हों और कानून के काम को, सिवाय उसको न मानने के दंड को नम्रतापूर्वक भोग लेने के अलावा और किसी तरह उसका प्रतिकार नहीं करेंगे। लेकिन हम स्वयं अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ रहेंगे और हमारे विरुद्ध होने वाले सभी आक्रमणों को प्रतिकार रहित हो बर्दाश्त करेंगे, दूसरी ओर हम अपनी ओर से नैतिक और आध्यात्मिक रूप से बड़े स्थानों पर और छोटे स्थानों पर राजकीय, राजनीतिक, कानूनी और धार्मिक संस्थाओं में जहाँ भी विषमता और अन्याय होगा उसका विरोध करेंगे,

और वह समय इस पृथ्वी पर जल्दी से जल्दी लाने का प्रयत्न करेंगे जबकि इस दुनिया के राज्य हमारे ईसामसीह के राज्यों में परिवर्तित हो सकेंगे।

'हमें यह स्वयं सिद्ध सत्य प्रतीत होता है कि ईसामसीह का उपदेश अपने पुनीत होने के कारण जो कुछ भी नष्ट करना चाहता था, उनको हम तुरन्त छोड़ दें। ऐसी स्थिति में जब उक्त उपदेश में ऐसे समय की भविष्य-वाणी की गयी है जब तलवारों के हल बन जायेंगे और लोग युद्ध की कला सीखना बन्द कर देंगे तो स्पष्ट है कि सभी लोग जो मारक शस्त्रों का निर्माण करते हैं, व्यापार करते हैं या उपयोग करते हैं, वे इस धरा पर ईश्वर के पुत्र के शान्तिपूर्ण राज्य के शत्रु हैं।

'अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने के बाद अब हम बतलायेंगे कि हम अपने उद्देश्य की पूर्ति किस प्रकार करेंगे। हमें आशा है कि हम केवल उपदेश देने की मूर्खता पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

'हम अपने विचारों को सभी राष्ट्रों, जातियों या वर्ग के लोगों में फैलाने का प्रयत्न करेंगे। इसके लिए हम सार्वजनिक व्याख्यानों का आयोजन करेंगे, छपे हुए घोषणा-पत्रों और साहित्य का वितरण करेंगे। और अपने राज्यों तथा केन्द्रीय सरकारों को आवेदन पत्र देंगे। युद्ध के पापपूर्ण होने और शत्रुओं के प्रति व्यवहार के संबंध में समाज के विचार, भावनाओं और व्यवहारों में पूरा परिवर्तन करने में हम समान्यतः शक्ति भर सभी प्रयत्न करेंगे।

'इस महान काय का आरम्भ करते समय हम पूरी तरह अनुभव करते हैं कि हमारी सचाई की बहुत कड़ी कसौटी की जायगी। हमें अपमान का सामना करना पड़ेगा, हमें पीड़ा और मौत तक का भी सामना करना पड़ सकता है। हमें गलतफहमी, गलतबयानी और बदनामी भी भुगतनी पड़ेगी। हमारे खिलाफ तूफान उठेंगे। गर्वांध और रूढ़िवादी, महत्वाकांक्षी और अत्याचारी शासक-अधिकारी सब हमारा दमन करने में एक हो जायंगे। उन्होंने तो ईसामसीह के साथ

भी ऐसा ही किया था और हम तो नम्रता-पूर्वक उन्हीं का अनुकरण करने के प्रयत्न में हैं। लेकिन हम इन अत्याचारों से आंतकित नहीं होगें। विश्वास मनुष्य में नहीं, बल्कि सर्वशक्तिमान ईश्वर में है। हमने स्वयं को मानव सुरक्षा से अलग कर लिया है, अब हमारी रक्षा धर्म के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? हमें कष्ट सहन करने होंगे इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, बल्कि हमें इस बात की प्रसन्नता होगी कि हम ईसामसीह के कष्टों में हिस्सा बटाने वाले बनेंगे।

"अतः हम अपनी आत्माओं की सुरक्षा ईश्वर को अर्पित करते हैं। हमें इस वाणी में विश्वास है कि जो ईसा की खातिर अपना घर, भाई-बहिन, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भूमि का त्याग करता है, वह उन्हें शतगुना प्राप्त करेगा और अमर जीवन का उत्तराधिकारी होगा।

'इस घोषणापत्र में अभिव्यक्त भावनाओं को निश्चित और विश्व-व्यापी विजय में दृढ़तापूर्वक विश्वास के साथ हम इस पर हस्ताक्षर करते हैं। इन भावनाओं का विरोध चाहे कितना भी प्रबल हो, हम मानव-जाति की अन्तर आत्मा और बुद्धि को इन्हें समझने की शिफारिश करते हैं और सबसे ऊपर परमपिता परमात्मा की शक्ति में निष्ठा रखकर शांति तथा नम्रतापूर्वक इसे ईश्वर पर छोड़ते हैं।'

हिंसक अप्रतिकार और ईसा के सिद्धान्त पर आधारित अराज्यवादी अहिंसक समाज का यह घोषणा-पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण और उदात्त है। इसमें शक नहीं कि उस समय अमरीका की जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि गेरीसन ने इस घोषणापत्र के प्रकाशन के बाद एक संस्था की स्थापना और अप्रतिकारी (Non Resistant) के नाम से इस सिद्धान्त के प्रचार के लिए पत्र भी निकाला, पर यह संस्था और पत्र जल्दी ही खतम हो गये, लेकिन आज भी इस घोषणा-पत्र में उल्लिखित भावनाओं से स्पष्ट है कि मनुष्य की इच्छा और आदर्श दिशा किस ओर है, और मानव समाज की प्राप्ति का लक्ष्य क्या है।

ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर नमूने के लिए

इनसे ही काम चल सकता है। ऐसे उदाहरण मानव विकास के उज्ज्वल प्रमाण हैं तथापि मनुष्य के विशाल इतिहास में ये संख्या, प्रभाव या विस्तार में बहुत कम ही रहे हैं। मनुष्य का लक्ष्य अभी दूर है।

अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता—हम परिवार या कुटुम्ब से गाँव या नगर पर आये, हमने नगर-राज्यों का निर्माण करके, उस क्षेत्र के विवादों का अन्त करके, उसमें शान्ति और सहयोग का जीवन विताने का प्रयत्न किया। फिर, और आगे बढ़े, राज्य का क्षेत्र बढ़ा, अब बड़े-बड़े राज्यों का निर्माण हो गया और प्रत्येक राज्य की सीमा में बहुत कुछ अहिंसा और प्रेम का व्यवहार करते हैं। आवश्यकता है कि और आगे बढ़ें, अहिंसा और प्रेम का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विस्तृत करें। हम समझें कि राष्ट्रीय हित का साधन उसी सीमा तक सार्थक है, जहाँ तक वह दूसरे राष्ट्रों के हित के साथ न टकराये। दूसरे राष्ट्रों से संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता करते हुए हम अपने राष्ट्र का वास्तविक हित-साधन कर ही नहीं सकते। पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा की दृष्टि से हमें क्या करना चाहिए। उन बातों पर अमल होने से अन्तराष्ट्रीय जीवन-पद्धति का निर्माण होना स्वाभाविक ही है। तथापि इसमें जो प्रमुख बाधाएँ हैं, उनका भी विचार कर लेना उपयोगी होगा।

मुख्य बाधाएँ, और उनका निवारण—हमारे मार्ग में तीन बाधाएँ मुख्य हैं—उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्य-लिप्सा, और विज्ञान का दुरुपयोग। इनके निवारण के सम्बन्ध में आगे की पंक्तियों में अच्छा प्रकाश डाला गया है—

'राष्ट्रीयता का भाव हम उचित मानते हैं, पर हम इस भाव के कारण दूसरे राष्ट्रों के ऐसे ही भावों को ठेस लगाना नहीं चाहते। हम अपनी राष्ट्रीयता का आधार सबलों द्वारा निर्बलों के शोषण को न बना कर, अपनी भावी समाज-व्यवस्था का आधार उस समाजवाद को रखना चाहते हैं जिससे सब लोगों के लिए यह अनिवार्य हो कि अपनी शक्ति के अनुकूल कार्य करें और सब के लिए यह भी प्रबन्ध

रहे कि उन्हें उनके अनुकूल सब आवश्यक वस्तुएँ मिलें। साम्राज्य-लिप्सा ने यदि बहुत सी खराबियाँ की हैं तो उसके द्वारा यह अच्छाई भी हुई है कि दूर-दूर के देशों में परस्पर सम्पर्क हुआ है और इसके कारण हमें दूसरों को समझने में भी सहायता मिली है। राष्ट्रीय भावों के कारण सब देशों को आन्तरिक स्वतंत्रता तो उन्हें मिलनी ही चाहिए, साथ ही संयुक्त राष्ट्र-संघ की तरह ही, परन्तु उससे अधिक विस्तृत, दलबन्दी-विहीन और ईमानदारी एवं निष्पक्षता से समस्याओं पर दृष्टि-बिन्दु डालने वाला एक राष्ट्र-संघ भी होना चाहिए जिससे कोई एक देश दूसरे देश की हानि न कर सके और सभी प्रजा सब स्थानों पर नागरिक अधिकारों की पात्र समझी जाय। इस प्रकार से राष्ट्रीय स्वतंत्रता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम होने पर मनुष्य की सदियों की अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी। वैज्ञानिक आविष्कार सब ऐसे हैं जिनसे यह आवश्यक नहीं है कि युद्ध में ही काम लिया जाये, पर जो शान्ति के समय भी काम दे सकते हैं। इस प्रकार आज हम देखें तो हमारी पहली समस्या यही है कि हम प्रत्येक राष्ट्र के अन्दर सुव्यवस्था लायें, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करें और वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य का नाश न कर उसके वास्तविक उत्कर्ष में सहायक हों।'*

विशेष वक्तव्य—संसार की वर्तमान स्थिति ऐसी हो गयी है कि मनुष्यों के प्रत्येक समूह को, उसी प्रकार के अन्य समूहों से घनिष्ट सम्बन्ध है; यही नहीं, उसे अन्य प्रकार के समूहों से भी हर समय काम पड़ता है। इस प्रकार किसी भी समूह का अपने आप को सब से अलग या जुदा समझ कर रहना सम्भव नहीं। दूसरों के सुख-दुःख, हानि-लाभ का प्रभाव हम पर पड़े बिना नहीं रहता। हम अन्य समूहों के हित की उपेक्षा नहीं कर सकते। यह बात सभी समूहों पर लागू होती

* 'भारत' के स्वाधीनता अंक १९५७ में प्रकाशित, श्री श्रीप्रकाश के लेख से।

है, राज्य में भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य है—चाहे इसमें कुछ समय लगे—कि प्रत्येक राज्य यह अनुभव करे कि जैसे मुझे अपने क्षेत्र में शान्ति और अहिंसा रखनी है, उसी प्रकार अपने राज्य से बाहर भी इसी नीति को अपनाने में मेरा कल्याण है; सब के हित से मेरा हित कुछ जुदा नहीं, वास्तव में सभी एक विशाल मानव परिवार के अंग हैं।

तीसवाँ अध्याय

अहिंसा और युद्ध

'दया की निर्दयता के सामने, अहिंसा की हिंसा के सामने, प्रेम की द्वेष के सामने, और सत्य की झूठ के सामने ही परीक्षा हो सकती है। यह बात सही हो तो यह कहना गलत होगा कि खूनी के सामने अहिंसा बेकार है। हाँ, यों कह सकते हैं कि खूनी के सामने अहिंसा का प्रयोग करना अपनी जान देना है। लेकिन इसी में अहिंसा की परीक्षा है।,

—गाँधी जी

सामूहिक रूप से युद्ध करना, बहुत दिनों से युद्ध की तैयारी रखना, यह मनुष्य की ही विशेषता है। हम साधारण तौर से क्रूरता, निर्दयता, अनुचित व्यवहार आदि को पाशविक, अर्थात् पशु सम्बन्धी प्रवृत्ति समझते हैं, पर कोई भी पशु इस प्रकार से अपनी ही जाति के ऊपर आक्रमण नहीं करता जिस प्रकार हम मनुष्य करते रहे हैं और आज भी करते जाते हैं।

—श्रीप्रकाश

कितने ही पाठकों को इस अध्याय का शीर्षक बड़ा अटपटा प्रतीत होगा। जीवन के अन्य क्षेत्रों में उन्हें अहिंसा की बात कुछ-न-कुछ, कम या ज्यादा जँच सकती है, पर युद्ध और अहिंसा का क्या सम्बन्ध! क्या युद्ध करते समय भी आदमी अपनी हिंसा-वृत्ति का कुछ नियंत्रण कर सकता है? क्या कभी ऐसा हुआ है? युद्ध का मुकाबला करने के लिए आदमी अपने प्रतिद्वन्दी से अधिक हिंसक हो—यही कल्पना होती है; क्या युद्ध का प्रतिकार अहिंसा से भी कभी हो सकता है? इन बातों

पर इस अध्याय में क्रमशः विचार किया जायगा। पहले युद्ध की कुछ अन्य बातों को ध्यान में ले आवें।

युद्ध के सम्बन्ध में मनुष्य और पशु में भेद—पशुओं में लड़ाई तो होती है। परन्तु अपनी योनि के पशुओं में उनकी लड़ाई बहुत ही कम होती है, और जो होती है, वह बहुत ही अल्प काल के लिए। श्री श्रीप्रकाश ने लिखा है यह तो देखा जाता है कि 'भोजन की खोज में एक पशु दूसरी जाति के पशु के ऊपर आघात करे, यौन सम्बन्ध के आवेश में एक पशु अपनी ही जाति के दूसरे पशु के साथ स्थायी रूप से हमला करे, पर वैज्ञानिक हमें बतलाते हैं कि ऐसा नहीं देखा जाता कि झुण्ड के झुण्ड पशु संगठित रूप से अपने जैसे दूसरे झुण्ड पर आक्रमण करें और दूसरे की जमीन को दखल करने का प्रयत्न करें। बहुत खोज करने पर एक प्रकार के चींटों का पता लगा है जो सामूहिक रूप से चींटों की किसी उपजाति के ऊपर समय-समय पर आक्रमण करते हैं, उन्हें पकड़ कर बन्दी बना लेते हैं और अपना काम उनसे कराते हैं, लेकिन इस प्रकार का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सका है। आखिर, युद्ध होता किस कारण है ? दूसरों के स्थानों और साधनों को अपने अधिकार में लाने के लिए ही तो युद्ध होते हैं। विशेष जन्तुओं में देखा गया है कि अपनी चरागाह के बाहर दूसरे की चरागाह पर आक्रमण नहीं करते और जब अपनी संख्या इतनी अधिक पाते हैं कि उनकी निर्धारित चरागाह उनको पर्याप्त भोजन न दे सके तो वे लाखों की संख्या में बगल के समुद्र में जाकर डूब मरते हैं। स्काटलैंड के लेमिंग नामक चूहे की जाति के जन्तु और आस्ट्रेलिया में एक मृग विशेष को जाति ऐसा ही करती है। आस्ट्रेलिया में बहुत भूमि पड़ी है जिस पर आसानी से वे फैल सकते हैं, पर ये हिरन अपनी परम्परागत परिधि के बाहर नहीं जाते। वे आत्म-हत्या पसन्द करते हैं, पर दूसरे के स्थान पर अपने आधिपत्य की बात नहीं।

❀ 'भारत', स्वाधीनता अंक १९५७

पशुओं की लड़ाई थोड़े ही समय में समाप्त हो जाती है। पीछे उन्हें उसकी याद नहीं रहती। मनुष्य की बात दूसरी है। वह अपनी योनि के प्राणियों से, अकेला-अकेला भी और समूहरूप से भी, लड़ता है। उनकी लड़ाई बीच-बीच में रुक कर कभी-कभी महीनों और पीढ़ियों चली है। राजसत्ता का निर्माण होने तथा उसके बलवान हो जाने पर आदमी आपस में कम लड़ते हैं; राज्य के भीतर छोटे-छोटे क्षेत्रों की लड़ाइयाँ प्रायः बन्द हो गयी हैं। हाँ, निरंकुश या स्वेच्छाचारी तथा पराधीन राज्यों में जनता की, अपनी सरकार से लड़ाई होती है। इसके अतिरिक्त एक राज्य की, दूसरे राज्य से लड़ाई होती ही है। वह कई-कई वर्ष चलती है। लड़ने वाले दोनों राज्यों के पक्ष में कई-कई दूसरे राज्यों के हो जाने से युद्ध का विस्तार, भयंकरता और विनाशकारिता कहीं बहुत अधिक होती है।

मनुष्य और पशुओं की लड़ाई में एक अन्तर और है। पशु अब भी सैकड़ों या हजारों वर्ष पहले की तरह अपने प्रकृतिदत्त साधनों—नख, पंजों या दाँतों और शरीर-बल से ही लड़ते हैं।* पर आदमी के लड़ाई के साधनों में बहुत फरक हो गया है। उसने नये-नये शस्त्रास्त्र बना लिये हैं और बनाता जा रहा है। वह लड़ने की शिक्षा पाता है, और युद्ध के विज्ञान में उन्नति कर रहा है।

युद्ध की मर्यादा; धर्म-युद्ध—आरम्भ में, युद्ध करते समय कोई पक्ष अपने व्यवहार में किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं करता था। जैसे भी बने, शत्रु को पराजित करने का लक्ष्य रहता था। लोगों की यह आम धारणा थी कि 'युद्ध और प्रेम में सब कुछ जायज है।' छल-कपट, साम, दाम, दंड-भेद कोई बात निषिद्ध नहीं। युद्ध का कोई नियम नहीं। धीरे-धीरे इस भावना में सुधार हुआ। लड़ाई में भी कुछ नियमों

* आदमी मुर्गों के पाँवों में छोटी-छोटी बर्छियां बांध कर भी उन्हें लड़ाते हैं। इसके विषय में अन्यत्र लिखा गया है।

का पालन किया जाय—यह विचारधारा बनने लगी। इसका एक प्राचीन उदाहरण हमें महाभारत-युद्ध में मिलता है। उसमें यह सोचा गया था कि लड़ाई केवल दिन में होगी (रात में नहीं), और दिन में भी उसका समय निर्धारित रहेगा। उस समय से पहले तथा पीछे दोनों पक्ष के आदमी एक दूसरे से पूर्ववत प्रेम का व्यवहार करेंगे। लड़ाई शुरू होने पर पैदल सिपाही पैदल से ही लड़ेगा और रथ, हाथी या घोड़े वाले सिपाही ऐसे ही वाहन वालों से लड़ेंगे। जो व्यक्ति युद्ध-क्षेत्र से बाहर होगा, या बाकायदा सैनिक न होगा उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया जायगा। लड़ाई आमने-सामने वालों में होगी, किसी पर लुक-छिप कर अचानक कोई प्रहार नहीं किया जायगा। यदि किसी का अस्त्र नहीं रहा है, गिर गया है, या टूट गया है तो कोई सशस्त्र व्यक्ति उससे नहीं लड़ेगा, अथवा उसे शस्त्र देकर ही उससे लड़ेगा। छाती से नीचे शरीर के किसी भाग पर प्रहार नहीं होगा। जो आदमी युद्ध से पीठ फेर कर जा रहा होगा, उस पर आक्रमण नहीं होगा। मतलब यह कि प्रतिद्वन्दी की कमजोरी या अभाव से अनुचित लाभ न उठाया जायगा, वरन् अपनी वीरता और पराक्रम से ही विरोधी को परास्त किया जायगा। महाभारत युद्ध में इन नियमों का पालन कुछ दशाओं में हुआ, वर्ना दोनों ही दलों ने इन नियमों को कुछ कम-ज्यादा भंग किया। तथापि यह उल्लेखनीय है कि युद्ध की मर्यादा निर्धारित की गयी और थोड़ा-बहुत उसका ध्यान रखा गया। इसीलिए इसे 'धर्म-युद्ध' कहा जाता है।

इसके बाद समय-समय पर युद्ध के नियम बनाये गये, उनका कुछ पालन हुआ तो भंग भी हुआ। अस्तु, लोगों का ध्यान इस ओर बना है।

युद्ध के कारण—प्राचीन काल में 'जोरू (स्त्री), ज़र, (सम्पत्ति) और जमीन' लड़ाई के मुख्य कारण माने जाते थे। अब स्त्री के कारण कहीं-कहीं छोटे-मोटे झगड़े भले ही हों, पर वे स्थानीय होते हैं, और जल्दी ही समाप्त हो जाते हैं। जर और

जमीन के कारण किसी राज्य की सीमा के भीतर होने वाले झगड़े वहाँ की सरकार द्वारा सहज ही दबा दिये जाते हैं, किन्तु जुदा-जुदा राज्यों के आपस में युद्ध तो चलते ही रहते हैं। पिछले सवा हजार वर्षों में युद्धों के मुख्य कारण ये रहे हैं—धार्मिक भेद-भाव, जातिगत या राष्ट्रगत भेद-भाव, और राजनैतिक-आर्थिक विचारधाराओं की विभिन्नता। धर्म के नाम पर होने वाले युद्ध अब इतिहास की बात हो गयी है। पर अन्य स्वार्थों का संघर्ष अब भी बना हुआ है। वर्तमान काल में साम्यवादी और लोकतंत्री कहे जाने वाले राज्यों का विरोध लोगों के सामने विशेष रूप से विद्यमान है; पहले पक्ष का प्रमुख रूस है, और दूसरे का अमरीका।

हिंसा की भावना; तृष्णा और परिग्रह—युद्ध के मूल में हिंसा की भावना है, जो अहिंसा के साथ-साथ ही मनुष्य में बनी हुई है। आदमी ने धीरे-धीरे अहिंसा की ओर प्रगति की है, पर अभी वह काफी नहीं हुई है। ऊपर कहा गया है कि मनुष्यों की राज्य के भीतर होने वाली हिंसा का राज्य द्वारा नियंत्रण रहता है, इसलिए आजकल अधिकतर हिंसा व्यक्तियों या समूहों के झगड़ों में प्रगट न होकर राज्यों के आपसी युद्ध के रूप में प्रगट होती है। तथापि हिंसा है तो व्यक्तियों में भी। हिंसा की जड़ तृष्णा और परिग्रह है। आदमी विविध पदार्थों का उपयोग करना चाहता है। वह अपने जीवन-रक्षण के लिए आवश्यक पदार्थों का सेवन करने के अतिरिक्त, अपने इन्द्रिय-सुख की कामना रख कर, अधिक-से-अधिक भोग-विलास करना चाहता है। फिर, वह जितना उपभोग आज कर सकता है, उससे ही उसे संतोष नहीं, वह कल की भी चिन्ता करता हैं, इस महीने या इस वर्ष की ही नहीं वह जन्म भर के ऐशो-आराम का प्रबन्ध करना चाहता है। वह इसके लिए खूब संग्रह या परिग्रह करने का प्रयत्न करता है, स्वयं अपने लिए ही नहीं, अपनी संतान के लिए, अपने रिश्तेदारों के लिए। ऐसा करने में वह यह नहीं सोचता कि मेरे साथी या पड़ोसी की भी जरूरतें हैं। उसकी अवहेलना मैं न करूँ, मैं उनका भी ध्यान रखूँ, और इस

लिए यथा-सम्भव संयम से काम लूँ, अपरिग्रह की भावना रखूँ। धर्म ने मनुष्य की इस स्वार्थ-भावना पर कुछ अंकुश लगाया, पर मनुष्य ने धर्म को भी अपने स्वार्थ सिद्ध करने का साधन बना डाला। मठों, महन्तों और सम्प्रदायों ने बड़ी-बड़ी जायदादें और जागीरों पर अधिकार जमाया। पादरियों ने अपनी हकूमतें कायम की, और 'क्रुसेड' जैसे भयंकर युद्ध किये।

उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद—तृष्णा और परिग्रह की भावना जब व्यक्तियों और समूहों से आगे बढ़ कर राष्ट्रीय रूप धारण करती है तो उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के और भी अधिक भयंकर कारनामे सामने आना स्वाभाविक है। आजकल जो युद्ध और महायुद्ध होते हैं, वे इसी के परिणाम हैं। वर्तमान राष्ट्र अधिक भूमि प्राप्त करना नहीं चाहते तो अधिक-से-अधिक देशों को अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाना चाहते हैं। उपनिवेशावाद और साम्राज्यवाद का स्वरूप अब बदल गया है, उन्होंने आर्थिक भेष धारण कर लिया है। पर मूल बात वही है—तृष्णा और परिग्रह। जब तक इसका अन्त नहीं होगा, शान्ति नहीं हो सकती, युद्धों का अन्त नहीं हो सकता। इस विषय पर खुलासा विचार आगे किया जायगा। हमारे अब तक के प्रयत्न तो मानो युद्धों को टालने के ही रहे हैं।

युद्ध को टालने की भावना—समय-समय पर आदमी जहाँ युद्ध की योजना करता रहा है, वहाँ, वह उसे टालने के लिए भी कुछ कम प्रयत्नशील नहीं रहा है, चाहे हमें इस प्रकार के सब प्रयत्नों का परिचय न हो। अस्तु, किसी भी युद्ध की आशंका होने के समय उसे रोकने का प्रयत्न बराबर हुआ है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य में युद्ध को टालने की भावना बहुत है। चाहे वह दीर्घ काल की दृष्टि से असफल ही होती रही है। वास्तव में यदि मनुष्य में यह भावना न हो

तो हर समय युद्ध ही होते रहें, आदमी को युद्ध से कभी अवकाश ही न मिले और फलस्वरूप उसकी जीवन-यात्रा जल्दी ही समाप्त हो जाय।

युद्ध टालने का स्थायी उपाय, दंड-शक्ति को कम किया जाय—ऊपर कहा गया है कि अभी तक युद्ध टालने के उपायों से जो सफलता मिली, वह क्षणिक या अस्थायी ही रही। किसी तरह एक युद्ध टल गया, तो कुछ समय बाद दूसरे का अवसर आ पहुँचा, उससे टाल कर या लड़कर किसी तरह छुट्टी पायी तो तीसरे की आशंका होने लगी। इस प्रकार सिलसिला चलता रहा है—चाहे वह कभी-कभी कुछ रुक कर मंद गति से रहा है। इसका अन्त कैसे हो?

युद्ध का अन्त उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक जनता स्वयं अपनी शक्ति से कार्य न करने लगे, और सरकार की शक्ति को उत्तरोत्तर कम करके शासन-मुक्ति या शासन-निरपेक्षता की दिशा में अधिक से अधिक न बढ़े। इस प्रसंग में विनोबा का निम्नलिखित कथन बहुत विचारणीय है—

'जनता जिस हद तक अपनी सरकारों को खतम करेगी, उसी हद तक युद्ध टाला जा सकता है और शान्ति कायम रह सकती है। यह बात सभी सरकारों पर लागू है—चाहे वह लोकशाही सरकारें हों, चाहे दूसरी। दंडशक्ति का उन्हें आधार है। इसे केवल हिंसा-शक्ति का रूपान्तर तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो दंड-शक्ति उनके पास है, वह जनता की तरफ से दी गयी है। उसका उपयोग भी जनसेवा में हो सकता है, इसे हम मानने को राजी हैं।....परन्तु दुनिया को इन लड़ाइयों से मुक्त करने की बात इससे नहीं बन सकती, क्योंकि सोचने का सारा ढंग यह रहेगा कि लोगों का मत-परिवर्तन करने के बजाय दबाव से कैसे काम लिया जाय। और जब तक दबाव वाला विचार मान्य रहेगा, तब तक यह कोशिश रहेगी कि सामने वाले से ज्यादा

दबाव हमारे पास रहे, ताकि उस पर हमारा वश चले। इस तरह परस्पर स्पर्द्धा जारी रहेगी। सरकारें अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकती हैं कि शक्तियों का संतुलन '(बैलेंस-आफ-पॉवर)' बना रहे, ताकि परस्पर के विरोध में जो शक्तियाँ हैं, उनमें साम्य रहे। यदि यह साम्य बना रहता है तो परिणाम शून्य होगा और शान्ति बनी रहेगी। इसलिए वे यही सोचती हैं कि किसी गुट में ज्यादा ताकत न आ पाये और संतुलन न बिगाड़े।....

'शस्त्र-संन्यास की बात भी अगर वे करती हैं तो कुछ तो डर के कारण करती हैं और कुछ इस विचार से कि अगर शस्त्र-संभार का खर्च कम हो तो जन-सेवा में ज्यादा खर्च कर सकेंगी। जन-सेवा की चर्चा तो चलती है, लेकिन अगर सामने वाला शस्त्रों पर ज्यादा खर्च करता है तो हमें भी लाचार होकर ज्यादा खर्च करना पड़ता है। रवैया यह कि पारस्परिक ताकतें एक-दूसरे को देखकर बढ़ती चली जाती हैं। कोई यह नहीं कहता कि सेना को छोड़ दो। दंड-शक्ति का आधार रखने वाली कोई सरकार शस्त्र छोड़ने की हिम्मत नहीं करेगी।

'तीसरी शक्ति को हम रचनात्मक शक्ति, विधायक शक्ति, प्रेम शक्ति आदि कई नामों से पुकार सकते हैं। इस प्रेम शक्ति को विकसित करने की ताकत उनमें नहीं हो सकती, जिनका भरोसा दंड-शक्ति पर है। इस लिए अगर हम चाहते हैं कि शक्ति, समृद्धि और आजादी ये तीनों हर देश में और हर गाँव में बनी रहें तो यह जरूरी है कि जनता स्वयं-शक्ति से काम करना सीखे और सरकारी शक्ति का क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होता जाय।'*

अहिंसक प्रतिरक्षा—आत्म-रक्षा के लिए अभी तक हिंसा का प्रतिकार हिंसा से होता रहा है, कुछ दशाओं में उससे कुछ राहत भी मिली मालूम हुई। परन्तु वह राहत या शान्ति क्षणिक या अस्थायी

---

*'सर्वोदय', अगस्त १९५४

हो रही। यही नहीं, बहुधा यह भी हुआ कि थोड़े बहुत समय में समस्या कुछ नये रूप में, तथा अधिक उग्र रूप में आ उपस्थित हुई। आखिर-आदमी हिंसा में कुछ अविश्वास करने लगा। अभी तक अहिंसा में श्रद्धा नहीं हुई, पर हिंसा की सफलता में कुछ शंका अवश्य होने लगी। इस प्रकार आदमी, कुछ झिझकता हुआ सा ही सही, अहिंसा की ओर झुकने को बाध्य हुआ है। इसलिए कुछ समय से अहिंसक प्रतिकारों के प्रयोग होने लगे हैं। उनके लिए अभी यथेष्ट तैयारी नहीं हुई है, तो भी उनमें अच्छी सफलता मिली है, उनके परिणाम बहुत आशा जनक रहे हैं।

एक शुभ सूचना—पिछले दिनों की बात है, इंगलैंड में कमांडर सर स्टीफेन किंगहाल ने एक रायल कमीशन नियुक्त किये जाने की सलाह दी, जो निशस्त्र प्रतिरोध पर आधारित ब्रिटेन की सुरक्षानीति की व्यावहारिकता का विचार करे। ये किंग-हाल कोई शान्तिवादी नहीं हैं। ये जल-सेना में काफी समय तक सेवा कर चुके हैं और आणविक शास्त्रों के बनाये जाने से सम्बन्धित ब्रिटिश सरकार के श्वेत-पत्र के समर्थक हैं। अस्तु, जैसा कि स्वाभाविक था, इंगलैंड के प्रमुख पत्रों ने इनके उक्त क्रान्तिकारी परामर्श की उपेक्षा की। लेकिन सर्वश्री एन्थनी ग्रीनउड, फेनर ब्राकवे और फ्रेंक अलेन जैसे संसद-सदस्यों ने उस परामर्श पर संजीदगी से विचार किये जाने की माँग कर बैठे। इससे स्पष्ट है कि इस आणविक युग में अहिंसक प्रतिरोध की ओर अच्छे-अच्छे विचारकों का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। अभी ऐसे विचारकों की संख्या कम, और बहुत ही कम है, तथा ऐसी बात का मजाक उड़ाया जाता है। पर यह कोई आश्चर्य या निराशा की बात नहीं है। सुधार का इतिहास इस विचार का समर्थक है कि एक पीढ़ी में जो बात हास्यास्पद है, वही अगली पीढ़ी में

व्यावहारिक विवाद का विषय बनती है, और तीसरी पीढ़ी में यथार्थतः अनुभव की जाती है।*

विशेष वक्तव्य—अस्तु, अभी हाल वातावरण अशान्त है। तथापि प्रत्येक राज्य अपने मन में यही चाहता है कि युद्ध न हो, सर्वत्र शान्ति रहे। इस चाह के पीछे इसे कार्य रूप में परिणत करने का दृढ़ संकल्प नहीं है। किन्तु इस प्रकार की चाह का पैदा होना भी महत्वहीन नहीं है। आशा है, यह इच्छा—चाहे उसके लिए काफी मूल्य चुकाने के बाद ही—क्रमशः बढ़ेगी। जैसा पहले कहा गया, युद्ध का मूल मनुष्य की तृष्णा और परिग्रह-भावना है। मनुष्यों को अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना तथा संयम और सादगी का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्येक देश अपने आपको खासकर बुनियादी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में स्वावलम्बी बनाये। जहाँ हम दूसरों को न लूटें, वहाँ यह भी जरूरी है कि हम दूसरों को ऐसा मौका न दें कि वे हमें लूट सकें। तभी युद्धों का अन्त होगा, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद आदि समाप्त होंगे।

---

*'आर्थिक समीक्षा' जून १९५७ के आधार पर

तीसरा खंड

उपसंहार

चिरकालीन शान्ति में विश्वास न करना याने मनुष्य स्वाभाव की भलाई में अविश्वास करना है। इस दिशा में आज तक के प्रयत्न इस लिए असफल रहे कि उनके करने वालों में अटूट श्रद्धा की कमी थी।....शान्ति उसकी अधूरी शर्तों के पालन से, कभी हासिल होने वाली नहीं है, जैसे कि रसायन शास्त्र में हम पाते हैं कि कोई भी रासायनिक सम्मिश्रण, उसकी आवश्यक शर्तों का पूरा पालन किये बगैर, वन ही नहीं सकता।

बचपन से मुझे सिखाया गया है और अपने अनुभव से उसकी यथार्थता को मैंने महसूस किया है कि मनुष्य जाति का सब से हीन व्यक्ति मानवता के प्राथमिक गुणों का विकास कर सकता है। यह बात निस्संदेह सार्वभौम है। और अन्य प्राणियों की तुलना में मानव की यही विशेषता है। इसलिए अगर एक भी बड़ा राष्ट्र बिना किसी शर्त के इस महान त्याग को अमल में लावे तो दुनिया में शान्ति प्रस्थापित हो चुकी है, यह हम में से बहुत से लोग प्रत्यक्ष रूप से अपने जीते-जी देख लेंगे।

—गांधी जी

इकत्तीसवाँ अध्याय

विश्व-शांति का उपाय : अहिंसा

एक बड़ी भारी शान्ति-सेना की स्थापना हमें करनी है। यह सेना निरंतर घूमते हुए, लोगों की सेवा करे, लोगों पर नैतिक प्रभाव डालती रहे और हिंसा को कभी आगे आने का मौका ही न दे।

—विनोबा

हमारे देश में संत विनोबा जिस सर्वोदय की विचारधारा का प्रचार कर रहे हैं, उसमें अहिंसा की महिमा के साथ प्रेम, सद्भावना और शांति का भी समावेश हो जाता है। यदि उनके इस आन्दोलन को हम विश्वव्यापी बनादें तो समर्थ राष्ट्रों की विध्वंसकारी नीति और युद्ध का खतरा सदा के लिए टल सकता है।

—'लोकवाणी'

मनुष्य को शान्ति की भूख—आदमी शान्ति चाहता है, वह जितनी योजनाएँ बनाता है सब का लक्ष्य यही होता है कि सुख-शांति मिले, उसके सब कामों में यही दृष्टि रहती है, उसकी तमाम मेहनत-मशक्कत, चिन्ता और परेशानी की पृष्ठ-भूमि शान्ति की इच्छा है। उसका आज का सारा कार्यक्रम इसी हेतु से है कि कल उसे आराम मिले। यह बात जैसी व्यक्तियों के सम्बन्ध में है, वैसी ही समुदायों, समूहों, जातियों और देशों के सम्बन्ध में है। वास्तव में मनुष्य ने जो ये विविध संगठन बनाये हैं, उनके निर्माण में उसका उद्देश्य शान्ति की चाह ही है। शान्ति के लिए वह समय-समय पर तरह-तरह के आविष्कार और

अनुसंधान करता रहा है। उसका सारा इतिहास शान्ति प्राप्त करने के प्रयत्नों का विवरण है।

'शान्ति के लिए' युद्ध की योजना—शान्ति के लिए मनुष्य ने दूसरे मनुष्यों की सेवा की है और उनके वास्ते कष्ट उठाया है; यही नहीं, उसने मनुष्येतर प्राणियों की भी हित-चिन्तना की है। यहाँ तक कि अनेक बार उनकी रक्षा के लिए अपनी जान जोखम में डाली है। परन्तु इसके साथ ही, शान्ति के लिए वह अक्सर—अज्ञान या अदूर-दर्शिता के कारण—दूसरों से लड़ता रहा है, मारकाट और हिंसा करता रहा है। युद्ध ठानता रहा है। अनेक राजनीतिज्ञों और राष्ट्र-सूत्रधारों ने युद्ध के समय पर यह घोषणा की है कि हम यह युद्ध 'युद्धों का अन्त करने के लिए' कर रहे हैं। अंग्रेजी में यह कहावत ही हो गयी है कि 'अगर शान्ति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो।'

सेनाओं पर भयंकर धन-नाश—एक-एक राष्ट्र प्रति वर्ष करोड़ों नहीं, अरबों रुपया सेना और सैनिक सामग्री पर स्वाहा कर रहा है, जिससे वह दूसरे राष्ट्रों के अधिक से अधिक जन-धन को नष्ट कर सके। चाहे अपनी जनता के लिए भोजन आदि की यथेष्ट व्यवस्था न हो, देश-प्रेमी महानुभाव बढ़-बढ़ कर कहते हैं कि सेना की मद में बजट में कमी न हो, हमारी लड़ने की शक्ति को आँच न आने पाये। ऐसे हिंसात्मक वातावरण में भी यहाँ विनोबा इस मसले पर गम्भीरता और शान्ति से सोचता है। प्रश्न होता है कि यदि भारत अपनी सेनाएँ कम कर दे, कुछ थोड़ी सी सेना अन्दर की व्यवस्था के लिए रखले, तो क्या हो?

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है—'दो बातें हो सकती हैं। या तो पाकिस्तान भारत में घुस आयेगा या उसका आक्रमण का भय जाता रहेगा और वह भी अपनी सेना घटा देगा। दोनों ही संभावनाएं

विचारणीय हैं। भारत खुद अपना सैनिक खर्च घटा सकता है। अन्तर्गत व्यवस्था के लिए बीस करोड़ रुपया खर्च कर सकता है और अपने विकासकार्यों के लिए १८० करोड़ रुपये बचा सकता है। इससे लोगों में जितनी शक्ति उत्पन्न होगी उतनी सेना से नहीं होती। यदि पाकिस्तान ने हिन्दुस्तान पर हमला किया तो संसार का सद्भाव जागरित होगा और वह उसे आक्रमण से रोकेगा। क्या विश्व लोकमत ने ब्रिटेन को मिस्र में आक्रमण से नहीं रोका? फिर, यदि लोगों में स्वतन्त्रता की भावना पैदा हो गयी है तो उन्हें कोई जीत ही नहीं सकता। वे आक्रमणकारियों से असहयोग कर सकते हैं। इसके विपरीत, यदि पाकिस्तान अपनी सेना घटा देता है तो वह भी अपने लोगों की ज्यादा सेवा कर सकता है और तब उसको भी भारत का काल्पनिक हौआ खड़ा करने की जरूरत न रहेगी।

आचार्य विनोबा ने कहा है सर्वोदय का विश्वासी तो कहेगा कि यदि पाकिस्तान अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाता है तो उसे ऐसा करने दो। मैं उससे नहीं डरूँगा मैं अपनी सैन्य शक्ति कम कर दूँगा। जब तक इस प्रकार का रुख न रखा जाय तब तक कोई भी भय से मुक्त नहीं हो सकता। हम डरते हैं; इसका कारण यह है कि हमने यह नहीं समझा है कि शक्ति उचित कार्य करने से आती है।

शान्ति प्राप्त करने में हिंसा की असफलता—अज्ञान अथवा अदूरदर्शितावश आदमी यह समझता रहा है कि हिंसक साधनों द्वारा शान्ति प्राप्त हो जायगी। विरोधी पक्ष के पास जितनी हिंसक सामग्री है, हम उससे अधिक रखेंगे तो वह ठंडा पड़ जायगा। इस प्रकार आदमी शुरू की लाठी और गदा से तीर-कमान पर आया, तीर कमान से वह बारूद से चलने वाले अस्त्रों अर्थात् बन्दूक और तोप आदि पर आया। पर शान्ति न हुई। और शान्ति होती भी कैसे! क्या कीचड़ से सने हुए शरीर की सफाई कीचड़ से हो सकती है?

दूषित साधनों से अच्छा लक्ष्य प्राप्त करने की आशा भ्रम-मूलक थी। पर आदमी का भ्रम बना रहा। एक राज्य ने जो हिंसक अस्त्र बनाये, उसे देखकर या उसकी बात सुन कर दूसरे ने उससे अधिक हिंसक साधन जुटाने की कोशिश की। सन् १९४२ में अमरीका ने जापान के दो अत्यन्त समृद्धिशाली नगर हिरोशिमा और नागाशाकी पर अणु बम फेंके थे। जिनसे दोनों शहरों की अरबों-खरबों की सम्पदा राख की ढेरों में बदल गयी थी और अकेले हिरोशिमा शहर में ही एक बम से ढाई लाख मानव प्राणी मर गये थे। उसके सात वर्ष बाद सन् १९४९ में रूस ने भी आणुविक बमों के सफल प्रयोग किये जिससे साम्यवादियों का यह विशाल देश जो सैन्य दृष्टि से तो सबसे अधिक शक्तिशाली था अमीरीका से आणविक आयुधों में बाजी मार ले। इंगलैण्ड भी प्रयोग कर रहा है, पर रूस का दावा है कि अब वह अपने मॉस्को नगर से जो बिना चालक का रॉकेट (विमान) रवाना करेगा वह १५,००० मील प्रति घन्टे में उड़ता हुआ इतना बड़ा बम निर्धारित लक्ष्य तक गिरा देगा कि पाँच मिनिट में लन्दन और वाशिंगटन जैसे शहर राख के ढेर बन जायेंगे। अब अमरीका अपनी जवाबी कार्रवाई करे, और फिर रूस उससे आगे बढ़े। इस दुश्चक्र का कैसे अन्त हो!

अहिंसा की दिशा में झुकाव—अणु-बम, उद्जन-बम आदि भयंकर हिंसक साधनों की असफलता ने मनुष्य की शक्ति की भूख बढ़ा दी है। शान्ति प्राप्त करने के लिए उसने अब तक हिंसा को अपनाया था, अब उसे अपनी भूल मालूम हो रही है। वह सोचता है कि जो दिमागी ताकत हिंसा में लगायी—और लगाकर भी अपना दुःख ही बढ़ाया—वह कम-से-कम कुछ अंश में अब अहिंसा में लगायी जाय। यह विचार-धारा कई रूपों में प्रकट हो रही है—जैसे सेना में भाग न लेना, रेडक्रास सोसायटी, निरस्त्रीकरण आदि।

शान्ति के लिए, सेना में भाग न लेना काफी नहीं—कई देशों में शान्तिवादियों का संगठन हुआ है। ये लोग लड़ाई के दौरान में खुले-आम चौराहे पर खड़े होकर यह भाषण देने और यह प्रचार करने की हिम्मत करते हैं कि युद्ध के लिए हमारी सरकार भी उतनी ही जिम्मेदार है, जितनी विरोधी देश की सरकार, और इसका इलाज यही है कि दोनों तरफ की जनता लड़ाई में भाग लेने से इनकार कर दे। पर प्रश्न यह है कि क्या ऐसे कार्य से संसार में युद्ध रुक कर शान्ति की स्थापना हो सकती है? गाँधी जी ने शान्तिवादियों को लक्ष्य करके साफ कहा है—

'सैनिक सेवा से इनकार करना ही काफी नहीं है। एक विशेष समय के आ जाने पर सैनिक सेवा से इनकार करना, बुराई से उस समय टक्कर लेने जैसा है, जब कि उसका समय प्रायः निकल चुका है। सैनिक सेवा तो उस बीमारी का केवल एक लक्षण है, जो बहुत गहरी है। मेरा सुझाव यह है कि जिन लोगों का नाम सैनिक सेवा के रजिस्टर में दर्ज नहीं है, वे भी इस बुराई में भाग ले रहे हैं, अगर वे अन्य प्रकार से राज्य का समर्थन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो सैनिक पद्धति से संगठित राज्य का समर्थन करता है—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से—बुराई में भाग लेने वाला है। बूढ़ा हो या बालक—प्रत्येक व्यक्ति टेक्स या कर देकर राज्य को बनाये रखने में भाग लेता है। इसलिए मैंने (पहले) युद्ध में अपने तईं कहा था कि जब कि मैं गेहूँ खाता हूँ, जिसे सेना का सहारा है, जब कि मैं सैनिक होने की बात छोड़कर और सभी कुछ कर रहा हूँ, मेरे लिए यही सबसे अच्छा है कि मैं फौज में भर्ती हो जाऊँ और गोली से मारा जाऊँ। अन्यथा मुझे पहाड़ों पर चला जाना चाहिए और प्रकृति से उत्पन्न किया हुआ भोजन खाना चाहिए। इसलिए जो आदमी सैनिक सेवा को बन्द करना चाहते हैं, वे अपना सब प्रकार का सहयोग हटा कर ही ऐसा कर सकते हैं। जो पद्धति

सरकार का समर्थन करती है, उससे असहयोग करने की तुलना में, सैनिक सेवा से इनकार करना बिलकुल नगण्य हैं ।१

रेडक्रास सोसायटी भी शान्ति-स्थापना में लाभदायक नहीं—रेडक्रास सोसायटी के आदमी युद्ध में जख्मी होने वालों की सेवा-सुश्रुषा करते हैं, वे इसमें जाति या देश आदि का संकुचित विचार नहीं करते और बड़ी लगन से तथा कष्ट उठाकर सेवा-कार्य करते हैं। परन्तु वे भी युद्धों को बन्द करने में सहायक नहीं हो सकते। गाँधी जी ने कहा है कि 'मैं उनमें और शस्त्र उठाने वालों में कोई भेद नहीं करता। दोनों ही युद्ध में भाग लेते हैं और उसके काम को आगे बढ़ाते हैं। रेडक्रास संगठन को युद्ध के बाद लोगों को राहत पहुँचाने की बात छोड़कर युद्ध से बाहर रहकर राहत पहुँचाने की बात सोचनी चाहिए।२

निरस्त्रीकरण की बात—इधर कई वर्षों से युद्धों को बन्द करने के लिए निरस्त्रीकरण या शस्त्र कम करने या न रखने की बहुत चर्चा हो रही है। बड़े-बड़े राष्ट्रों के सभा-सम्मेलन होते हैं, वाद-विवाद होता है, कुछ प्रस्ताव पास होते हैं। विज्ञप्तियाँ निकलती हैं। परन्तु स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। कई बार तो कुछ आशा बंध जाने के बाद फिर निराशा होती है, जिसका जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। वास्तव में जैसा गाँधी जी ने कहा है—'निरस्त्रीकरण उस समय तक स्पष्टतया असम्भव है, जब तक कि बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपने साम्राज्य-वादी उद्देश्यों को न छोड़ें, और यह बात उस समय तब असम्भव प्रतीत होती है जब कि ये बड़े-बड़े राष्ट्र आत्म-नाशक प्रतियोगिता में विश्वास रखना, आवश्यतकओं को बढ़ाने की इच्छा रखना और उसके लिए भौतिक मिल्कियत की वृद्धि करना न छोड़ दें। मेरा विश्वास है कि बुराई की जड़ ईश्वर में जीवित श्रद्धा की कमी में है।'

१'यंग इंडिया,' ३१-१२-३१

२'फार पेसिफिस्ट्स' नामक अंग्रेजी पुस्तक से।

शान्ति के लिए शान्ति-सेना चाहिए—हम शान्ति चाहते हैं, पर काम अशान्ति के करते हैं। उसका परिणाम क्या होता है। 'बोवे पेड़ बबूल के, आम कहाँ तो होय।' दूसरों को मारने वाली सेनाएँ शान्ति-स्थापना नहीं कर सकतीं। शान्ति के लिए तो हमें ऐसा संगठन चाहिए जो दूसरों को जिन्दा रखें, दूसरों की रक्षा करे, चाहे इस काम में अपनी आहुति देनी पड़े। यह संगठन 'शान्ति-सेना' कहा जा सकता है।

इस सेना की बात कुछ नयी नहीं है। गांधी जी ने कई बार इस का जिक्र किया था, परन्तु उन्होंने खासकर साम्प्रदायिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर इस सेना का सुझाव दिया था। कुछ समय पहले अन्य सज्जनों ने भी यहाँ शान्ति-सेना की बात उठायी थी। उनका विचार है कि शान्ति-सेना को प्रारम्भ में शान्ति-स्थापना का भरसक प्रयत्न करना है, परन्तु उनका अन्तिम सहारा तो आधुनिक ढंग की सशस्त्र और हिंसाकारी सेना ही है।

शांति-सेना के सम्बन्ध की आज तक की कल्पनाओं और योजनाओं से बिलकुल भिन्न और स्वतंत्र कल्पना विनोबा ने हमारे सामने रखी है कि शांति-सेना का सिपाही जाति-निरपेक्ष और धर्म-निरपेक्ष तो होगा ही, याने इन भेदों को न मानने वाला तो वह होगा ही, वह किसी पक्ष का सदस्य भी नहीं रहेगा और न किसी पक्ष के काम में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिस्सा ही लेगा। पूछा गया कि फिर सत्याग्रही लोकसेवक में और इस शांति-सैनिक में क्या फरक होगा?

विनोबा ने स्पष्ट किया कि सभी सत्याग्रही लोकसेवक शांति-सैनिक बन सकते हैं, क्योंकि लोकसेवक की पंचविध निष्ठा तो शांति-सैनिक के लिए अनिवार्य है ही—शांति-सैनिक के लिए एक शर्त और है कि उसे जब भी और जहाँ भी जाने का हुक्म होगा, उसे जाना होगा। अपने निर्धारित क्षेत्र के लिए तो सत्याग्रही लोकसेवक भी शांति-सैनिक ही हैं। परंतु यदि उसे शांति-सेना का बाजाब्ता सैनिक कहलाने की

इच्छा है, तो उसे इस अनुशासन का पालन करना होगा। शांति-सेना में अनुशासन होगा और वह हिंसक सेना से किंचित् भी कम नहीं होगा। फरक इतना ही है कि वह स्वेच्छा से स्वीकृत अनुशासन होगा।' ['भूदान-यज्ञ', २३ अगस्त ५७]

शान्ति-सेना का कार्य—विनोबा ने कहा है कि 'शान्ति-सेना का काम यही होगा कि वे उस स्थान की शांति का भंग न होने दें। उनका काम प्राकृतिक चिकित्सा के समान है। प्राकृतिक चिकित्सा में रोग न हो, इसी का खयाल किया जाता है। इस पर भी रोग हुआ, तो उस पर इलाज है, शरीर-शुद्धि का। तो अशांति न होने देना ही हमारा प्रयास रहगा। इस पर भी अशांति होती है, तो ऐसे समय हमारा बलिदान देना हमारा कर्तव्य हो जाता है। शांति-सेना नित्य काम तो सेना का करेगी, परन्तु विशेष अवसर पर वह शांति का काम करेगी। सारे लोगों में हमारे सेवक बँटे रहेंगे। उनकी तालीम के लिए योजना करते रहेंगे और वह एक रेग्युलर सर्विस चलती रहेगी। भूदान, ग्रामदान, साहित्य का प्रचार करेंगे, स्वच्छता सिखायेंगे, रोगियों की सेवा करेंगे। इस प्रकार की तरह-तरह की सेवा का ज्ञान उनको होगा। लोगों का उन पर विश्वास बैठेगा। कोई भी कठिनाई है, तो तुरन्त वे सेवकों को बुलायेंगे। हमारे सेवक हमको कभी भी मदद करने के लिए तैयार हैं, ऐसा विश्वास उनको होना चाहिए। कोई भी सेवा करने के लिए सदा-सर्वदा तैयार! किसी बुढ़िया का लड़का बीमार है, रात को जागना है। बुढ़िया बुलायेगी, वह जायगा, रात भर जागेगा, सेवा करेगा। ऐसे हृदयवान् सेवक होंगे।*

'शान्ति-सेना के सैनिक को सत्याग्रह के लिए भी तैयार रहना चाहिए। सत्याग्रही के हृदय को अनुशासन में रखने का रास्ता अहिंसा के सिवा दूसरा कोई नहीं हो सकता। सत्य के सिवा और कोई भी सत्ता

* 'भूदान-यज्ञ', १६ अगस्त ५७

हम पर अधिकार चलाती है, तो हम सत्याग्रही नहीं बन सकते। ऐसे सत्याग्रही इन कार्यकर्ताओं में से निकलने चाहिएँ।'

स्वयंसेवक सेना या सेवा-सेना का सहयोग—'विनोबा ने बताया कि सामान्य तौर से शाम को एक घंटा कवायद आदि करा कर तथा धीरे-धीरे शान्ति-सैनिक के कामों की दीक्षा देकर—किन्तु शान्ति सैनिक की जिम्मेवारियों से मुक्त-स्वयंसेवकों की ऐसी सेना हर गाँव में होगी, जो समय-समय पर ग्रामसेवा में हाथ बँटाते रहेगी और जिसमें से शान्ति-सेना के लायक सैनिकों का चुनाव होता रहेगा। याने यह स्वयंसेवक सेना शान्ति-सेना के लिए 'फ़ीडर' का काम करेगी। चूँकि इन स्वयंसेवकों में भी विचार-प्रचार का कार्य चलता रहेगा, अतः भावनावान युवक शान्ति-सेना के प्रति भी आकर्षित होते रहेंगे। बल्कि ऐसी शान्ति-सेना को शान्ति-स्थापना का काम पड़ना ही नहीं चाहिए, ऐसी उसके द्वारा जनसेवा हुई होगी, क्योंकि प्रधानतया वह 'सेवा-सेना' ही होगी! सेवा-सातत्य के कारण इस सेना ने जनता का इतना विश्वास संपादन कर लिया होगा कि या तो उस क्षेत्र में अशान्ति निर्माण ही नहीं होगी और होगी तो शान्ति-सेवक अपनी जान का खतरा उठा कर भी शान्ति-स्थापना का प्रयत्न करेंगे।

'याने जनता के जितने भी दैनंदिन काम सेवा के, कष्ट निवारण के हैं, उन सबमें सेवा-सेना का प्रमुख हाथ रहेगा। गाँव की स्वच्छता, गाँव का आरोग्य शिक्षण, उद्योग अर्थात् गाँव की समस्याओं को सुलझाने वाली यह सेवक-सेना होगी। गाँव में इन्फ्लूएंजा हुआ, तो लोगों को विश्वास होगा कि सेवा-सैनिकों द्वारा सलाह और सेवा का आवश्यक प्रबन्ध होने वाला है। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर सेवकों से परिवार वाले कह सकेंगे कि आज रात्रि को मरीज की सेवा के लिए किसी को यहाँ रहना होगा। उसे सेवकों की सेवा से यह अधिकार मिला होगा और उसकी अपेक्षा पूरी होगी।

'अगर किसी एक जिले में या एक क्षेत्र में भी इसमें निहित शक्तियों का दर्शन हम जनता को करा सकें, तो इसका असर सारे भारत पर हो सकता है, क्योंकि इस योजना द्वारा पुलिस और मिलिट्री की अंतर्गत आवश्यकता भी समाप्त हो सकेगी। ग्राम-विकास की योजना गाँववाले ही बनायेंगे, इसलिए संयोजन-विभाग विकेंद्रित हुआ होगा। गाँव का शिक्षण, स्वास्थ्य गाँववालों द्वारा ही सम्हाला जावेगा, इसलिए उन-उन विभागों की भी आवश्यकता केंद्र या राज्य में नहीं होगी ! पुलिस और डिफेंस भी इस शांति-सेना द्वारा अनावश्यक सिद्ध होगा।'*

स्पष्ट है कि शान्ति-सेना की योजना कितने प्रभावकारी परिणामों से भरी हुई है, और विश्व शान्ति के लिए कितनी उपयोगी है। विनोबा को यह हाल में केरल में ग्राम-राज्य के अगले कदम के तौर पर सूझी, जब कि वे बीमार थे, परन्तु उनका चिन्तन चल रहा था।

शान्ति-सेना बनाने का काम जनता को करना है—
क्या शान्ति-सेना की योजना सरकारें कर कर सकती हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विनोबा ने कहा है कि 'यह तो वे तब करेंगी जब उनकी मुक्ति ही लश्कर से होगी। पर तब तो उनको खुद को भी मुक्ति मिलेगी ! इस वास्ते यह काम जनता को करना है। कोई राजनैतिक पार्टी यह कर नहीं सकेगी। लोगों को बहुत भ्रम होता है और सोचते हैं कि राजनैतिक पार्टियाँ शान्ति और अहिंसा पर खड़ी हैं ! हम भी चाहते हैं कि अहिंसा और शान्ति कायम रहे, लेकिन उनके आधार पर हम पार्टियों को खड़ी नहीं कर सकते ! सामने एक पार्टी खड़ी है और हम दूसरी पार्टी हैं ! "तू मेरा नहीं, वह मेरा है", इस तरह का भेदभाव जहाँ होगा, वहाँ अहिंसा कैसे रहेगी ?'

---

*'भूदानयज्ञ', २३ अगस्त ५७

शांति-सेना की ताकत सम्मति-दान से बढ़ेगी—शान्ति-सेना जनता की सहमति से ही काम करेगी, उसकी सम्मति के बिना नहीं। विनोबा ने कहा है—'शान्ति-सेना की शक्ति बढ़ने के लिए हर घर में जितने लोग हैं उनकी तरफ से सम्मतिदान के तौर पर कुछ देना होगा। सम्पत्ति-दान से प्रत्यक्ष साक्षात् मदद है। उसमें भी सम्मति है, परन्तु हर लड़के से, हर बूढ़े से, बहन, से वह नहीं आती। हमने सुझाया कि पैसे के बदले श्रम दे दो। हर महीने में पाँच मनुष्य के घर से सूत की एक गुंडी मिलनी चाहिए। उसकी कीमत बीस नये पैसे होगी। याने पाँच मनुष्य के परिवार में से हरेक मनुष्य को चार नये पैसे देना है। परन्तु हम पैसे नहीं चाहते, श्रम चाहते हैं। अगर यह बात होगी तो बहुत बड़ी क्रान्ति होगी। घर-घर में 'प्रोडक्शन' (उत्पादन) होने लगेगा। बूढ़ा और बीमार भी एक गुंडी दे सकता है। इस तरह से हर घर से सम्मति मिलेगी। इस एक गुंडी से ही शान्ति-सेना को बहुत मदद तो नहीं मिलेगी। ज्यागा मदद मिलेगी सम्पत्ति-दान से, परन्तु ताकत मिलेगी सम्मति-दान से।'

विशेष वक्तव्य—मनुष्य-समाज ने अपने सुख शान्ति के लिए समय-समय पर विविध विचार धाराएँ अपनायी, जैसे—(१) दूसरे को मार कर जीना, (२) कम को मार कर ज्यादा का जीना, (३) जीओ और जीने दो। विश्व-शान्ति के लिए और आगे बढ़ना है। अब हमारी नीति होनी चाहिए, दूसरों के लिए जीओ, दूसरों की रक्षा और जीवन के लिए स्वयं अपनी आहुति देने को तैयार रहो। ऐसी भावना रख कर काम करने वाली शान्ति-सेना निश्चय ही विश्व-शान्ति प्रदान करने वाली होगी। यह जरूरी नहीं, और स्वाभाविक भी नहीं कि सभी देशों में यह सेना एक-साथ बने, पर एक देश में बनने पर, दूसरे देशों में भी इसका अनुकरण होगा, इसमें सन्देह नहीं।

बत्तीसवाँ अध्याय

काल-चक्र अहिंसा की ओर

अगर हम विश्वास करते हैं कि मनुष्य जाति दृढ़ता-पूर्वक अहिंसा की ओर बढ़ रही है तो इससे यह नतीजा निकलता है कि उसे उसकी ओर और आगे बढ़ना है। संसार में कोई चीज स्थिर नहीं, प्रत्येक वस्तु गतिशील है। अगर प्रगति नहीं तो अवगति निश्चित है।

—गांधी जी

हमें अहिंसा की प्रगति की आशा है। यह केवल इसलिए नहीं, कि हम विश्व-शान्ति चाहते हैं। सिर्फ हमारी इच्छा की बात नहीं है। मनुष्य के इतिहास और वर्तमान स्थिति पर गम्भीर विचार करने से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि हिंसा की वर्तमान चरम स्थिति पर आ पहुँचने पर अब मनुष्य को अहिंसा की ओर ही मुड़ना है, और काफी मुड़ना है। काल-चक्र अब अहिंसा की ही ओर है।

मानव मानस का यंत्र पीछे नहीं जा सकता—पहले एक अध्याय में बताया गया है कि राज्य की स्थापना से हिंसा व्यवस्थित हुई, परन्तु पीछे जाकर वह क्रमशः बढ़ती गयी और अब तो वह भयंकर रूप से बढ़ी हुई है। इस पर विचार करते हुए श्री विनोबा ने सर्वोदय सम्मेलन, पुरी, (मार्च १९५५) में कहा था, 'भयभीत मानव अब कुछ विचार करने लगा है और सोचने लगा है कि यह अतिहिंसा की जो अतिरिक्तता है, वह तोड़ी जाय और फिर से सीमित-व्यवस्थित हिंसा कायम की जाय। ऐसी कोशिश हो रही है।........परन्तु प्रगति का क्रम देखते हुए जो मानस शास्त्र को समझते हैं, वे इस बात को जरा सोचने पर महसूस करेंगे कि इस प्रगति का चक्र कभी पीछे नहीं

आ सकता। वह कहीं आगे ही जा सकता है।......सामूहिक मानव-मानस-यंत्र ऐसा नहीं है कि उसको कोई एक व्यक्तिगत मानव रोक सके और पीछे ले जा सके; क्योंकि वह सामूहिक मानव के मानस का यंत्र बन गया है। और जिस गति से वह आगे बढ़ा है, उसी गति से उसको और आगे बढ़ना है। अब क्या होना बाकी है? अर्थात् या तो उसको अपना रूप अब अहिंसा में विसर्जि करना है, या उससे भी विकराल रूप धारण करके, मनुष्य समाज की समाप्ति करके कृतकार्य होना है। इन दो में से कोई एक तो उसको करना ही है, यह समझना जरूरी है।

'इस वास्ते भयभीत मानव का यह जो प्रयत्न है कि केवल उसका अतिरेक रोका जाय तो यह सम्भव नहीं है। यह बात अगर ध्यान में आयेगी तो इसके आगे दो ही परिस्थितियाँ उसकी हो सकती हैं। एक में मानव का पूर्ण विनाश होगा और दूसरे में मानव को पूर्ण विकास का मौका मिलेगा। और अहिंसा अगर आती है तो हमको जरा बल महसूस करना चाहिए। जिनका मानवता में विश्वास है, उनको भी अपने में जरा ताकत महसूस करनी चाहिए।'

भयकारी निर्भयता—अभी अधिकांश आदमियों का मत है कि देश-रक्षा के लिए फौज तो रखनी ही पड़ती है, तो जगह-जगह रायफल-क्लब खोलकर क्यों न युवकों को प्रशिक्षण दिया जाय और निर्भय बनाया जाय। इसका उल्लेख करते हुए श्री विनोबा ने कहा, 'उसमें भी काफी सार है, रहस्य है कि जब आदमी निर्वीर्य बनता है तो उस हालत में वह थोड़ा सा साहस करने लगता है। पर अगर उस हिम्मत को बारीकी से सोचें तो वह भय का ही रूप होता है। उसमें जो निर्भयता होती है, वह वीर्यवान निर्भयता नहीं होती वह डरने वाली निर्भयता होती है। उसमें कुछ साहस या हिम्मत होती है, इस तरह उसका कुछ बचाव अभी तक किया गया और अभी और किया जा सकता है। मगर यह बात हम मान लें तो ऐसी छोटी-छोटी हिंसाएँ अपना रौब अब जमा सकेंगी, यह सम्भव नहीं है। अगर समाज पर अब किसी

की सत्ता चलेगी तो या तो उसका पूर्ण संहार करने वाली अतिहिंसा की ही सत्ता चलेगी या फिर वह विसर्जित होकर अहिंसा में परिणत होगी।'

मध्ययुगीन कल्पना से आगे बढ़ें—'तो हमें अब वह पुरानी कल्पना छोड़ कर मध्ययुगीन जमाने में जिन गुणों का लोगों ने सम्मान किया, उन्हीं गुणों में सीमित रहने के बजाय अब जरा हिम्मत करके थोड़ा बल महसूस करना चाहिए, अपने में; और इस अतिहिंसा को समाप्त करके पूर्ण अहिंसा की तैयारी करनी चाहिए। दूसरी भाषा में इसका मतलब होता है, दंड-मुक्त, शासन-मुक्त, समाज की जो बात हम करते हैं, उसके लिए हमें कमर कसनी चाहिए।'

काल-चक्र अहिंसा की ही ओर—आगे विनोबा ने कहा—दंड-मुक्त या शासन-मुक्त समाज बनाने में काफी वक्त लगेगा, ऐसा मुझे लगता था। लेकिन जब से अतिहिंसा का यह स्वरूप प्रगट हो गया तब से मुझ में बड़ा भारी उत्साह आया है और उम्मीद हो गयी है कि दंड-मुक्त समाज अब जल्दी लाया जा सकेगा।....इस वास्ते जब कभी ऐटम और हाइड्रोजन बम की बात चलती है तो मुझे लगता है कि एक ईश्वरी प्रेरणा हो रही है और सारी समाज-रचना अब मेरे हाथ में आने वाली है, वह जोरों के साथ हमारी तरफ आ रही है। वह कहती है पुकार करके, कि अहिंसा देवी! तू आजा और इस शक्ति को बचा ले। तो अब हमारे लिए सोचने की बात है कि हमारा काम इसके आगे हमारे लिए आसान है या कठिन है। पर यह काम हमारे लिए आसान ही है। यह ध्यान में आना चाहिए कि काल-चक्र ही इसको आसान बनाने जा रहा है और उस दृष्टि से हिम्मत करके हमको आगे की सारी योजना करनी चाहिए। शासन-मुक्त समाज के लिए ही अब तैयारी हो रही है।'

समूह मानव की समान प्रेरणाएँ—शासन-मुक्त या दंड

निरपेक्ष समाज की स्थापना की, और उसके लिए भूदान-यज्ञ की, जो प्रेरणा विनोबा को हुई, उससे स्पष्ट है कि भगवान संसार का प्रलय या अतिहिंसा नहीं चाहता—इसका उल्लेख करके इस दिव्य द्रष्टा ने कहा—'इतिहास भर में देखा गया है कि कुल मानव का इतिहास दैवी प्रेरणाओं से प्रेरित है। आप देखेंगे कि एक जमाना था, एक युग था, जिस युग में इधर बुद्ध भगवान थे, तो उधर कन्फ्यूशयस थे, और कुछ दिन के अन्तर से जरथुष्ट थे। थोड़े दिन बाद ईसा आगये। तो पैगम्बर ही पैगम्बर एक साथ उन पाँच सौ साल के अन्दर आपको दिखेंगे। फिर समाज में एक ऐसी अवधि आयी, इतिहास में एक ऐसा समय आया, जिस में आप देखते हैं अनेक संतों को। जब इधर वैष्णव आये तो अन्यत्र और साधु-संत हुए। इस प्रकार सब तरफ उस समय हम संतों को देखते हैं। फिर, जिधर देखो उधर, हर देश में आजादी की बात चली, मानव समाज में साम्ययोग की स्थापना होनी चाहिए, किसी न किसी स्वरूप की समता स्थापन करनी है, समता चाहिए, आजादी चाहिए, ऐसी प्रेरणा आज कुछ देशों में हो रही है। इसका मतलब यह है कि प्रेरणाएँ हुआ करती हैं और प्रेरणाओं से मानव समाज प्रेरित होता है और प्रवृत्त होता है। तो अभी की जो यह प्रेरणा है, वह अभी तक जो प्रेरणाएँ हुईं, उनके विकसित स्वरूप की प्रेरणा है, ऐसा समझ कर हमको यह महसूस होना चाहिए कि ईश्वर हमको अपना हथियार, औजार बना रहा है। हम को अगर यह भास हो जाय तो फिर हम कम ताकत वाले नहीं रहेंगे, बल्कि ऐटम् ने तो यह साबित कर दिया है कि बड़ी भारी श्रद्धा अब बढ़नी चाहिए।

हम पूर्ण पुरुष की प्रतीक्षा में न बैठे रहें—गाँधी-सेवा-संघ की सभा में २२ जून १६४० को गाँधीजी ने वर्धा में कहा था—"ईश्वर ने मुझ जैसे अपूर्ण मनुष्य को इतने बड़े प्रयोग के लिए क्यों चुना? मैं अहंकार से नहीं कहता, लेकिन मुझे विश्वास है कि परमात्मा को गरीबों से कुछ काम लेना था। इसलिए उसने मुझे चुन

लिया। मुझसे अधिक पूर्ण पुरुष होता तो शायद इतना काम न कर सकता। पूर्ण मनुष्य को हिन्दुस्तान शायद पहचान भी न सकता। वह बेचारा विरक्त होकर गुफा में चला जाता। इसलिए ईश्वर ने मुझ जैसे अशक्त और अपूर्ण मनुष्य को ही इस देश के लायक समझा। अब मेरे बाद जो आयेगा, वह पूर्ण पुरुष होगा।"

जिस हृदय-विदारक रूप में गाँधीजी की जीवनलीला समाप्त हुई, उसका ध्यान आते ही सहसा हमारे मुँह से निकल पड़ता है कि गांधी जी ने अपने-आपको अपूर्ण पुरुष कहा था, लेकिन हम अभागे तो 'अपूर्ण' गाँधी को भी ठीक से पहचान नहीं सके। हमने उन्हें धर्म-विरोधी और न जाने क्या-क्या समझा और कहा। जबकि बहुत-से मुसलमान गाँधीजी को इसलिए विशेष मान-प्रतिष्ठा देने में हिचकते थे कि गांधीजी गैर-मुसलमान थे, अनेक कट्टर हिन्दू यह समझते थे कि गांधी जी तो (हिन्दू) धर्म के विरोधी हैं और मुसलमानों का पक्ष लेते हैं। गांधीजी कैसे ऊँचे धर्म के माननेवाले थे, कितने सच्चे हिन्दू थे (और इसी प्रकार कितने सच्चे मुसलमान और सच्चे ईसाई थे)—यह बहुत कम लोगों ने समझा। राज्य ने तो उन्हें बार-बार जेल का मेहमान बनाया ही।

जब कि मनुष्य जाति गांधी जैसे अपूर्ण मनुष्य को भी सहन नहीं कर सकी और उनके साथ उसने वैसा ही व्यवहार किया जैसा पहले सुकरात और ईसा के साथ किया था, तो यह कहना दुस्साहस प्रतीत होगा कि हम अहिंसा के लिए एक पूर्ण पुरुष का स्वागत करने के योग्य हैं। तथापि हम मनुष्य जाति के उज्वल भविष्य में आशावादी हैं। गाँधी के बाद संसार को विनोबा का मिल जाना एक शुभ लक्षण है। मानवता के नये-नये रूप, नये-नये अवतार प्रकट होंगे, वे अधिकाधिक पूर्ण होंगे। परन्तु पूर्ण पुरुष की प्रतीक्षा में हमें निष्क्रिय बैठे रहना नहीं है। हमारी सक्रियता, लगन और निष्ठा ही पूर्ण पुरुष के आगमन का कारण होगी।

अहिंसा का विस्तार—अहिंसा का समुचित विस्तार होने के लिए अभी बहुत प्रयत्नों की आवश्यकता है, तथापि यह कहा जा सकता है कि यह विस्तार क्रमशः होता रहा है और आगे भी होते रहने की सम्भावना है। गाँधी जी ने कहा—'मेरी दृष्टि में तो, मुझे निश्चय है कि न तो कुरान में, न महाभारत में कहीं भी अहिंसा को प्रधान पद दिया गया है। यद्यपि कुदरत में हमको काफी आकर्षण दिखायी देता है, तथापि यह आकर्षण के ही सहारे जीवित रहता है। पारस्परिक प्रेम की बदौलत ही कुदरत का काम चलता है। मनुष्य संहार पर अपना निर्वाह नहीं करते हैं। आत्म-प्रेम की बदौलत औरों के प्रति आदर-भाव अवश्य ही उत्पन्न होता है। राष्ट्रों में एकता इसलिए होती है कि राष्ट्रों के अंगभूत लोग परस्पर आदर-भाव रखते हैं। किसी दिन हमारा राष्ट्रीय न्याय हमें विश्व तक व्याप्त करना पड़ेगा, जैसा कि हमने अपने कौटुम्बिक न्याय को राष्ट्रों के—एक विस्तृत कुटुम्ब के—निर्माण में व्याप्त किया है।*

विशेष वक्तव्य—मानव प्रगति के इतिहास पर नजर डालें तो मालूम होता है कि मनुष्य की अहिंसा-यात्रा में समय-समय पर विविध बाधाएँ आयी हैं। मनुष्य अपनी प्रस्तुत समस्याओं को कभी तेजी से और कभी मंद गति से हल करता रहा है। जब कभी बड़ी समस्या उपस्थित होती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अहिंसा के मार्ग में आगे बढ़ने के बजाय पीछे हट रहा है। परन्तु यह पीछे हटना स्थायी नहीं है। कभी-कभी तो पीछे हटना भविष्य में गति तेज होने का सूचक होता है, जैसे आदमी बड़ी छलाँग मारने के लिए कुछ पीछे हटा करता है।

अस्तु, मनुष्य वास्तव में, कुल मिलाकर आगे ही बढ़ता है; हाँ, उसकी चाल कभी-कभी बिलकुल सीधी रेखा में न होकर वक्र

---

*'हिन्दी नवजीवन,' ५-३-२२

या टेढ़ी-मेढ़ी होती है जैसे कि साँप टेढ़ा-मेढ़ा चलता हुआ भी अपने लक्ष्य की ओर आगे ही बढ़ता रहता है। यदि मनुष्य को जीवित रहना है और अवश्य जीवित रहना है—तो उसे जीवन-धर्म अहिंसा को अपनाना है और इसे अपनायेगा। हम मानवता की विशाल कल्याणकारी प्रतिमा के दर्शन के लिए लालायित हैं। हम यात्रा पर चल पड़े हैं, चल रहे हैं और धैर्य, आशा और विश्वास-पूर्वक चलते ही रहेंगे। यह ईश्वर का अनुग्रह है कि काल-चक्र भी अहिंसा की ओर है।

तैंतीसवाँ अध्याय

भारत का उत्तरदायित्व

भारत के प्रति मेरी इतनी भक्ति इसलिए है कि मेरे पास जो कुछ है, वह सब मैंने उसी से पाया है। मेरा पक्का विश्वास है कि उसे दुनिया को एक संदेश देना है। मैं अहिंसा द्वारा, जिसे मैं हिन्दू धर्म का मूल समझता हूँ, भारत की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर चुका हूँ।

—गांधी जी

भारतीय संस्कृति की मूल्यमयी इकाइयों में एक अहिंसा है। यदि मानवता को विनाश से बचना है तो लोक को उसे अपनाना होगा।

—कन्हैयालाल मुंशी

अहिंसा सभी देशों में—अहिंसा की भावना मनुष्य मात्र में है। अहिंसा मनुष्य का स्वभाव ही है। इसलिए वह—कुछ कम या ज्यादा—सभी देशों में है। सभी देशों में धर्म-प्रवर्तकों ने अहिंसा का उपदेश दिया है। लेखक, कवियों, दार्शनिकों आदि ने अहिंसा के सम्बन्ध में अपने हार्दिक उद्‌गार प्रकट किये हैं, अनेक व्यक्तियों ने अपने जीवन में इसका खूब परिचय दिया है, कितनों ही ने तो बहुत कष्ट सह कर तथा अपनी जान जोखम में डालकर भी अहिंसक व्यवहार का उदाहरण उपस्थित किया है। इन बातों का उल्लेख इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर किया गया है।

भारत की विशेषता—अहिंसा के सर्वव्यापी होते हुए भी भारत में उसकी विशेष परम्परा रही है। इसकी झलक पाठकों को इस पुस्तक

में कई जगह मिलेगी। संक्षेप में कहा जा सकता है—

(१) इतिहास के अध्ययन से जहाँ तक मालूम हो सका है, खेती का आविष्कार सबसे पहले भारत में हुआ, जिससे मनुष्यों को मांसाहार की अनिवार्यता न रही।

(२) जैन धर्म की स्थापना सबसे पहले भारत में ही हुई, जिसने अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया और जिसके प्रभाव से लाखों आदमी अपने जीवन में जीव-हिंसा से पूर्णतया बचने का प्रयत्न करते हैं।

(३) बौद्ध धर्म का आविर्भाव भारत में ही हुआ, जिसकी दीक्षा लेकर सम्राट् अशोक ने अहिंसा का व्रत लिया, दूर-दूर के देशों में इसका प्रचार किया, और जिसने शस्त्रों द्वारा विजय की बात छोड़कर प्रेम से विजय करने की बात कही।

(४) भारत में समय-समय पर सन्तों और महापुरुषों के बराबर आते रहने के कारण अहिंसा-भावना इतनी प्रबल रही कि उसका प्रभाव बाहर से आने वालों पर—शासकों पर भी—पड़ा। कई मुस्लिम बादशाहों ने यहाँ की मान्यताओं का आदर करके पशु-हिंसा को नियंत्रित या कम किया। अकबर की अहिंसा-भावना को देख कर कुछ ईसाई पदारियों ने समझा कि वह जैनी है। पारसी और ईसाई यहाँ के अहिंसा-वातावरण से प्रभावित हुये।

(५) गांधी जी का जन्म भारत में ही हुआ, जिन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों में होने वाले दोषों का नैतिक विरोध किया, यहाँ तक कि सामूहिक हिंसा के लिए भी अहिंसक प्रतिरोध की योजना की और सभी शस्त्रास्त्रों का विरोध सत्याग्रह और सहयोग से कर दिखाया।

(६) भारत ने ही विनोबा को जन्म दिया, जिनकी दिव्य अहिंसा का प्रकाश संसार में उत्तरोत्तर फैलना निश्चित है।

अहिंसा के सम्बन्ध में गांधी जी की भारत से आशा—

गांधी जी हमारी वर्तमान कमजोरी या कमी को अच्छी तरह जानते थे।

वे समय-समय पर जनता को और खासकर कार्यकर्ताओं को सावधान करते रहे। तथापि उन्हें हम भारतीयों से अहिंसा के सम्बन्ध में बड़ी आशा रही। उन्होंने लिखा—

'इस प्रकार मैं भारत से अहिंसा बरतने का आग्रह इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि वह कमजोर है, बल्कि इसलिए कि मैं उसकी शक्ति और सामर्थ्य को समझता हूँ। अपनी शक्ति को समझने के लिए उसे शस्त्रों की तालीम की आवश्यकता नहीं है। हमें उसकी (शस्त्र-ज्ञान की) आवश्यकता इसलिए भास होती है, क्योंकि हम यह सोचते रहे हैं कि हम सिर्फ माँस के लौंदे हैं। मैं चाहता हूँ कि भारत यह समझे कि उसमें एक आत्मा है, जो कभी नष्ट नहीं हो सकती, जो हर भौतिक कमजोरी को जीतकर ऊपर उठ सकती है और सारे संसार की भौतिक गुटबंदी को चुनौती दे सकती है।' ['यंग इंडिया', १८ अगस्त २१]

अन्यत्र गाँधी जी ने कहा—'हिन्दुस्तान में अनादि काल से अहिंसा की एक अटूट परम्परा चली आ रही है। लेकिन जहाँ तक मेरी जानकारी है उसके प्राचीन इतिहास में किसी भी समय ऐसा नहीं हुआ है कि सम्पूर्ण अहिंसा ने देश भर को व्याप्त कर लिया हो। फिर भी मेरी दृढ़ श्रद्धा है कि मनुष्य जाति को अहिंसा का पैगाम सुनाने का भाग्य हिन्दुस्तान ने ही लिखाया है। मुमकिन है, वह दिन आने में युग बीत जायँ। लेकिन जैसा कि मेरा अनुमान है, इस मकसद को पूरा करने में और कोई मुल्क उससे आगे नहीं रह सकता।'

भारत कसौटी पर—क्या भारत उस आशा के अनुरूप व्यवहार कर रहा है? गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सन् १९१९ से २८ वर्ष कार्य किया, एक तरह से स्वाधीनता-आन्दोलन इसी ने चलाया। सन् ४७ में भारत के स्वाधीन हो जाने पर यहाँ इसी की सरकार है। मोटे तौर से उसकी नीति और कार्यों से ही यह समझा जा सकता है कि

भारत कहाँ तक गांधी जी के पथ पर चल रहा है। भारत ने राष्ट्रों की गुटबन्दी में न फँसकर तटस्थता की नीति अपनायी है और 'पंचशील' सिद्धान्त का प्रचार किया। संसार के प्रायः सभी राष्ट्र भारत से मित्रता और सहयोग करने के आकांक्षी हैं। विश्व-राजनीति में भारत का एक विशेष स्थान है।

पर हम जरा सोचें, विदेशों में हम अहिंसा के प्रचारक और गांधी जी के अनुयायी के रूप में मान्य किये जायें तो अपने देश में हमारा रवैया क्या हो। घर में हिंसा और बाहर अहिंसा की बात कुछ मेल नहीं खाती। पिछले वर्षों में देश में साधारण जनता पर कितनी बार गोली चली है, इसका हिसाब लगावें। अपने आपको अहिंसावादी घोषित न करनेवाले इंगलैंड और अमरीका में भी इस अनुपात में गोलीकांड नहीं होते। भारत के पराधीनता-काल में अंग्रेज शासकों के आज्ञाकारी बनकर यहाँ पुलिस और फौज ने मरने से ज्यादा मारने का पाठ पढ़ा। स्वाधीन होने पर भारत में क्या उससे यह आशा न की जाय कि सेवक के नाते वह अपनी जानजोखम में डालकर भी जनता की रक्षा करेगी? गांधी के देश की पुलिस अपना कर्तव्य ठीक से पालन न करे, तब तक हमारा विदेशों को पंचशील का उपदेश क्या कुछ शोभास्पद है?

निरस्त्रीकरण के लिए अनुकूल अवसर—आज कल संसार में शान्ति-आन्दोलन चल रहा है, बड़े-बड़े राष्ट्र इसकी खूब चर्चा करते हैं, सभायें करते हैं, और इस विषय के साहित्य का प्रचार करते हैं। इस आन्दोलन का उद्देश्य है, हथियारों को कम करने, फौजों को बरखास्त करने में उत्तरोत्तर प्रगति करना। इसके सम्बन्ध में पंडित सुन्दर लाल जी लिखते हैं—'पिछले पचास बरस के अन्दर जैसे-जैसे हिंसा के नये-नये हथियार और तरीके निकलते गये वैसे ही आदमी के अन्दर सच्ची मानवता और इनसानियत भी जोरों के साथ पैदा होती गयी। यह मानवता ही शान्ति-आन्दोलन में राष्ट्रों के एक दूसरे को अधिक

अच्छी तरह समझने की इच्छा में और पूरी या अधूरी हथियारबन्दी में अपने को प्रगट कर रही है।'

'एक ओर सोवियत रूस की राजनीति और उसकी पालिसी में जो जबरदस्त उलट-फेर हुए हैं उन्होंने और दूसरी ओर भारत की अहिंसात्मक तटस्थता यानी गैरजानिबदारी और इसके साथ भारत के 'पंचशील' के उसूल ने जो विश्व-शान्ति और विश्व-मैत्री की बुनियाद हो सकता है, इन दोनों ने मिलकर पूरी कामयाबी के साथ दुनिया की नैतिक तराजू के पलड़े को शान्ति की तरफ झुका दिया है, सारी दुनिया अब शान्ति के हक में आवाज ऊँची कर रही है, दुनिया को इससे जो शक्ति मिली है और जो अवसर मिला है उससे यदि ठीक-ठीक और सच्चाई के साथ फायदा उठाया जा सके तो मानव इतिहास में एक नया पन्ना पलटा जा सकता है जिसके लिये सारी मानव जाति इस समय भूखी और प्यासी है।' ['नया हिन्द' अगस्त, ५७]

अगुआ या मुखिया कौन बने ? भारत—अब सवाल यह है कि निशस्त्रीकरण के मामले में आगे कदम कौन बढ़ाए, पहल कौन करे ? भारत की अहिंसा की परम्परा और उससे भी बढ़कर अहिंसा में गांधी जी की विशेष देन को देखकर संसार में लोगों का यह आशा करना स्वाभाविक है कि भारत—अशोक और गांधी का भारत—ही इस विषय में नेतृत्व करे।

आदमी कहते हैं कि पाकिस्तान अपने शस्त्रास्त्र बढ़ा रहा है, उसे अमरीका की मदद मिल रही है ऐसी दशा में भारत में सेना आदि घटाने की बात करना अव्यावहारिकता का परिचय देना है। इस विषय में श्री विनोबा की कुछ विचारणीय बातें इस प्रकार हैं—

(१) पाकिस्तान जो शस्त्र बढ़ा रहा है इससे उसकी ताकत बढ़ रही है ऐसा नहीं। परन्तु हम कहना चाहते हैं कि वह शस्त्र बढ़ा कर कमजोर बन रहा है। वह लड़ने के लिए तब तैयार हो सकेगा जब अमरीका उसे उसके लिए तैयार करेगा और अमरीका उसे तैयार तब

करेगा जब वह रूस से लड़ने की तैयारी कर विश्व-युद्ध की घोषणा करेगा।' (ऐसा करना कुछ खेल नहीं है)।

(२) शान्ति की उपासना लोग करना चाहते हैं। परन्तु अन्तिम श्रद्धा शान्ति पर नहीं होती। अभी तक यह मान्य नहीं है कि रक्षण के के लिए सत्व गुण समर्थ है। लेकिन हमको भास होता है कि हम शस्त्र बिल्कुल कम कर दें ता हमारी ताकत बढ़ जायगी। यह ध्यान में तब आयेगा जब छाती में धड़कन नहीं होगी और सामने वाले के लिए हमारे दिल में प्रेम होगा। परन्तु उसके अभाव में हमको डर लगता है और फिर हमको देश के बचाव की जिम्मेवारी महसूस होती है। देश के बचाव की जिम्मेवारी है, इसलिए हम कहते है कि शस्त्र-त्याग होना चाहिए। यह हिम्मत की बात है। इसमें बुद्धिमानी भी है।'

(३) 'हमने लिख रखा है—'सत्यमेव जयते।' यह हमने नहीं लिखा है 'सत्य और शस्त्र शक्ति विजयते।' हमने तो लिखा है "सत्यमेव जयते" यानी केवल सत्य को ही जीत है क्योंकि सत्य के बचाव के लिए सत्य के सिवा और किसी की जरूरत नहीं।'

(४) 'नेता शक्तिशाली होता है तो सरकार में ताकत आती हैं और सरकार में ताकत आती है तो जनता में भी ताकत आती है। इसलिए जरूरी है कि सरकार अपनी हिम्मत का परिचय दे और जनता की भी हिम्मत बढ़ाये। जनता में भी इसके लिए उचित वातावरण पैदा करना जरूरी है। इसलिए अहिंसा में निष्ठा रखने वालों का यह प्रमुख उत्तरदायित्व है कि वे इसके लिए सरकार को भी प्रेरित करें और जनता को भी इसके लिए तैयार करें।'

विनोबा का मार्ग-दर्शन; निरस्त्रीकरण और निर्भयता

—ऊपर निरस्त्रीकरण की बात कही गयी है। वास्तविक निर्भयता का उदय शस्त्र-त्याग से ही होता है। परन्तु निर्भयता के उदय के बिना शस्त्र-त्याग भी नहीं हो सकता। इस तरह एक दुविधा खड़ी होती है। इसके निराकरण के सम्बन्ध में विनोबा ने सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है—'सोचना चाहिए कि शस्त्र का त्याग करने

में भय कौन-सा मालूम होता है। यही कि दूसरों का हम पर आक्रमण होगा और आजादी खतरे में आजायगी। इससे वह डरता है, उससे यह डरता है। तो किसी को आरम्भ करना ही होगा। कौन आरम्भ करे? छोटा कहता है, 'मैं छोटा हूँ, इसलिए मुझसे आरम्भ नहीं होगा।' बड़ा कहता है, 'मैं बड़ा हूँ, इसीलिए मैं आरम्भ नहीं कर सकता।' छोटे को छोटाई के कारण डर है। अगर हिम्मत हुई तो छोटा भी आरम्भ कर सकेगा बड़ा भी कर सकेगा। छोटा सोचेगा, 'है भी कितना मेरे पास शस्त्र-बल। उतना रख कर भी क्या करूँगा।' बड़ा सोचेगा, 'मेरी ताकत सब पहचानते हैं। उस हालत में अगर मैं शस्त्रों का त्याग कर दूँ तो वह एक वीर्यवान कृति होगी। उसका असर दुनिया पर पड़े बिना कैसे रहेगा?' लेकिन छोटे को या बड़े को यह हिम्मत कैसे आयेगी? अगर व्यक्तिगत बात होती तो कह सकते कि राम का नाम लो और कर दो त्याग। लेकिन जहाँ सारे समाज का सम्बध होता है, वहाँ ऐसे केवल यांत्रिक उपाय नहीं चलते। यंत्र तो चाहिए लेकिन साथ में तंत्र भी चाहिए। तंत्र याने सामाजिक तंत्र। सारी आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी बैठानी चाहिए कि जिसमें आक्रमण का या हमले का आवाहन या पोषण न हो सके। आर्थिक व्यवस्था में अगर साम्ययोग नहीं रहा, तो वह आज नहीं कल, अन्तर-विप्लव का या बाह्य आक्रमण का या दोनों का जरूर आवाहन करेगी।'

ग्राम-प्रधान अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता—विनोवा ने कहा है कि 'हमारी सरकार पं० नेहरू के सुयोग्य नेतृत्व में अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा पर ही जोर देती है। इससे मुझे समाधान हो रहा है और उस बात की मैंने कई बार प्रशंसा भी की है। लेकिन मुझे डर है कि जब तक उसकी आर्थिक नीति ग्राम-प्रधान नहीं बनेगी तब तक उसकी वह अहिंसक नीति ज्यादातर वाचिक ही रह जायगी। गांधी जी का तो विश्वास था कि हिंसक शक्ति के त्याग का उदाहरण दुनिया को हिन्दुस्तान ही दे सकेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान की संस्कृति में वह चीज

थी, क्योंकि हिन्दुस्तान ने अहिंसक नीति के आधार पर आजादी पायी है और क्योंकि हिन्दुस्तान एक स्वयंपूर्ण देश बन सकता है। लेकिन इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने ग्रामोद्योग-प्रधान जीवन की कल्पना और आयोजना कर रखे थे। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि ग्रामोद्योग योजना को छोड़ कर अगर कोई अहिंसा को लेना चाहे तो यह असम्भव-सी बात है।'*

विशेष वक्तव्य—भारत अहिंसा के सम्बन्ध में अपना उत्तर-दायित्व पूरा करे, इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक भारत-सन्तान—वह किसी भी जाति या धर्म, श्रेणी या समुदाय का हो—इस ओर सच्चे मन से अग्रसर हो। केवल जनता ही नहीं, आज भारत का शासन-सूत्र जिन लोगों के हाथ में है, और जो अपने-आपको गांधी के चरण-चिह्नों पर चलनेवाला कहते हैं, वे भी विचार करें कि उनके कार्य, उनके प्रयोग, उनकी योजनाएँ कहाँ तक अहिंसा के विचारों से मेल खाती हैं। क्या उनका जीवन, उनका रहन-सहन उनके आदर्श अहिंसा की भावना के अनुकूल हैं? देश की रचना समाजवाद के आधार पर करने की बात कही जा रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देने के लिए क्या उच्च अधि-कारियों के वेतन में मामूली कमी होना काफी है, क्या उनके भत्ते और सुविधाओं पर कुछ नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है? हमारी राजधानी की शान-शौकत अमरीका, इंग्लैंड की राजधानियों के टक्कर की हो, इसके बजाय क्या हम यह न सोचें कि वह गांधी के भारत की, अहिंसक भारत की राजधानी कही जाने के अधिक योग्य हो? हम प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने योग्य बनें, अपने लिए एवं मानवता के लिए अहिंसा को अधिकाधिक समझने और उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में अमल में लाने का प्रयत्न करें यही हमारी मनोकामना है।

*'सर्वोदय', मई १९५०